

रामायण के पात्र



दिनकर जोशी



रामायण के पात्र

दिनकर जोशी

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
ISO 9001:2008 प्रकाशक

यह रघुनाथ गाथा

दस वर्ष की कोमल वय में, एकदम नासमझी की अवस्था में जिस ग्रंथ का सर्वप्रथम वाचन किया था, उस ग्रंथ का नाम था—'रामायण'। उस समय शायद ही कुछ समझ में आया था, पर कालक्रम में रामायण और महाभारत दोनों महाग्रंथ मेरे अभ्यास-स्वाध्याय-आनंद के विषय बनते गए।

महाभारत के विषय में इससे पहले सात-आठ ग्रंथ मैं लिख चुका हूँ। इनमें महाभारत के पात्रों के विश्लेषणात्मक ग्रंथ 'महाभारत में मातृ-वंदना' और 'महाभारत में पितृ-वंदना' के प्रकाशित होने के बाद कई मित्र, शुभेच्छु और वाचक रामायण के पात्रों की भी ऐसी ही विश्लेषणात्मक पुस्तक लिखने का आग्रह कर रहे थे।

तीन वर्ष पहले रामायण के पात्रों के विषय में ऐसी ही एक लेखमाला लिखी जा सकी और 'मुंबई समाचार' के रविवारीय साप्ताहिक परिशिष्ट में वह हर सप्ताह धारावाहिक रूप में प्रकाशित भी हुई। इस लेखमाला को ग्रंथाकार होने में इतना लंबा समय लगा—बलीयसी केवल ईश्वरेच्छा!

हमारे यहाँ रामायण और श्रीमद्भागवत कथारूप में कोने-कोने में पढ़े जाते हैं, सुने जाते हैं। अनेक कथाकारों ने इन दोनों ग्रंथों को लोकप्रिय बनाया है। महाभारत के साथ ऐसा नहीं हुआ। हालाँकि सातवीं सदी में भारत आए चीनी यात्री ह्यु-एन-त्संग ने महाभारत की कथा सार्वजनिक श्रवण के लिए पढ़ी जाने का उल्लेख अवश्य किया है। कालांतर में रामायण को तुलसीदास मिले, भागवत को बल्लभाचार्य मिले, लेकिन महाभारत को ऐसा कोई नहीं मिला। परिणामस्वरूप तुलसीकृत रामायण और बल्लभाचार्य प्रबोधित भागवत व्यापक बने। कथाकारों के लिए भी ये दोनों कथाएँ 'रेडीमेड फॉर्मूला' बन गईं। महाभारत की कथा कहने के लिए एड़ी का पसीना चोटी को करना पड़ता है।

एक बात स्पष्ट कर दूँ, रामायण की सैकड़ों विभिन्न आवृत्तियों में एक-दूसरे से पूर्णत: भिन्न वृत्तांत मिलते हैं। इस ग्रंथ में आदिग्रंथ वाल्मीकि कृत रामायण को प्रमाण माना गया है।

—दिनकर जोशी

१०२-ए, पार्क एवेन्यू
दहाणुकर वाडी, एम.जी. रोड
कांदिवली (प.), मुंबई-४०००६७
फोन न. : ०२२-२९६७३२८९

—१—

सांस्कृतिक विरासत का गौरव

सांस्कृतिक विरासत का गौरव समझे बिना शोभा नहीं देता

भारतीय संस्कृति को यदि कोई निश्चित आकृति का स्वरूप दे तो इस आकृति के दो स्तंभ अर्थात् रामायण और महाभारत हैं—ऐसा सहज ही निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है। रामायण में रामकथा केंद्र स्थान पर है। पर महाभारत में कृष्ण केंद्र स्थान पर हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। इसके बावजूद कृष्ण के प्रवेश के बाद महाभारत की तमाम मुख्य घटनाओं का सूत्र प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कृष्ण के ही हाथ में रहा है। रामायण की रचना महाभारत की रचना के पूर्व हुई है। रामायण के तमाम राम-आख्यान की महाभारत में पुनरुक्ति भी हुई है। इन दोनों ग्रंथों के बीच समय का कितना अंतराल रहा होगा, यह विद्वानों की अटकलों का विषय है। कोई भी एक अटकल उससे विरुद्ध अटकल द्वारा परास्त की जा सकती है, ऐसे तर्क भी अस्तित्व रखते हैं। राम और कृष्ण दोनों ने विष्णु के क्रमशः सातवें और आठवें अवतार के रूप में स्थान प्राप्त किया है। रामकथा का जो विस्तार और व्याप्ति देश और विदेश में है, उसकी तुलना में महाभारत का विस्तार और व्याप्ति मर्यादित रहे हैं। रामायण जितना लोकभोग्य हुआ है, उतनी लोकप्रियता महाभारत को नहीं मिली। इसके बावजूद रामायण के राम की अपेक्षा महाभारत के (और भागवत के भी) कृष्ण अधिक सर्वव्यापी और लोकभोग्य बने हैं। ऐसा होने का कारण कृष्ण के विविध रूप हैं। कृष्ण को बालक लालजी से लेकर योगेश्वर कृष्ण तक, अनेक रूपों और अनेक नामों में प्रायोजित किया जा सका है। परंतु राम के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता है। कृष्ण वंशीधर भी हैं, सुदर्शन चक्रधारी भी हैं, अर्जुन के सारथी भी हैं, गोप-कन्याओं के वस्त्र हरकर कदंब वृक्ष पर बैठ भी जाते हैं और समग्र यादव परिवार का संहार स्वस्थ (शांत) चित्त से देखने के बाद भी होंठ पर विलसती करुणासभर स्मित को यथावत् रख भी सकते हैं। राम के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। राम अपने एक ही नाम और एक ही स्वरूप में सदियों से करोड़ों लोगों के बीच स्थिर बने हुए हैं। कृष्ण के हाथ में सुदर्शन चक्र के उपरांत रथ का पहिया अथवा अश्व का चाबुक भी हथियार बन जाता है, पर धनुष-बाण के बिना राम की हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

तथापि राम और रामकथा मात्र भारत में ही नहीं, मात्र हिंदुओं में ही नहीं, बल्कि देश-विदेश में और अन्य धर्मावलंबियों में भी विस्तृत प्रसार और व्यापक स्वीकृति प्राप्त किए हुए है। वाल्मीकि को उनके तुलसीदास मिले और यह रामकथा विशिष्ट-ग्रंथ के रूप में ही मर्यादित न रहकर, गाँव-गाँव और कोने-कोने तक प्रसरित हो गई। रामकथा की सरलता भी इसमें महत्त्व की घटना है। रामायण एक पारिवारिक जीवन की बात करती है। महाभारत में भी परिवार तो है ही और ये दोनों परिवार कोई जन-सामान्य का प्रतिनिधित्व नहीं करते। इसके बावजूद रामायण के तमाम पात्रों के विषय में एक निश्चित दिशा तय हो सकती है। राम हों या लक्ष्मण, हनुमान हों या भरत, रावण हो या कुंभकर्ण, सीता हों या कौशल्या—ये सभी पात्र अपने लिए निश्चित हुई लीक पर ही चलते हैं। ये पात्र किन संयोगों में कैसा व्यवहार करते हैं, इसका सातत्य सतत बरकरार रहता है। लक्ष्मण जिस तरह क्रोध करते रहते हैं या सीता जिस तरह राम के प्रत्येक कृत्य का अनुसरण करती हैं, उसमें कहीं भी कोई विरोध नजर नहीं आता। महाभारत में किसी पात्र के कर्मों के विषय में ऐसा निश्चितता के साथ नहीं कहा जा सकता है। अमुक परिस्थितियों में कृष्ण, भीष्म या युधिष्ठिर अमुक ढंग से ही व्यवहार करेंगे—ऐसी धारणा किसी ने रखी हो तो उसे गलत होते हम देखते हैं। शायद इन सब के कारण ही महाभारत अधिक रहस्यमय और विश्व भर के विद्वानों के लिए चुनौतीपूर्ण रहा है और

रामायण सामान्य व्यक्ति के लिए अधिक अपना रहा है। जिस तरह वाल्मीकि को अपने तुलसीदास मिले, उस तरह महर्षि व्यास को अभी तक कोई तुलसीदास नहीं मिला।

रामायण की सर्वव्यापकता और लोकप्रियता के कारण इस ग्रंथ में हर किसी ने स्थान-काल के संदर्भ में अपनी-अपनी अनुकूलता के अनुसार नए-अनोखे परिवर्तन किए हैं। वाल्मीकि रचित रामायण के सर्वप्रथम ग्रंथ होने के विषय में तो अब विवाद के लिए कोई अवकाश नहीं है। कोई-कोई अतिबौद्धिक, रामकथा वाल्मीकि द्वारा रचित रामायण के पूर्व भी प्रचलित थी, ऐसा अर्थघटन करके 'वाल्मीकि ने भी यह कथा अन्य किसी परावर्ती कथा में से ली है' ऐसा सिद्ध करने का प्रयास करते तो हैं, पर यह तर्क निरा वितंडावाद है। इसके बाद के इन पृष्ठों में हम जिस रामायण के बारे में विचार करने वाले हैं, उसका आधार वाल्मीकि कृत रामायण है। इस रामायण में भी विद्वान् कभी-कभी बालकांड को प्रक्षिप्त कहकर खारिज करते हैं, पर जो परंपरागत और अधिकृत ऐसे दो पाठ हमारे समक्ष उपलब्ध हैं, उसमें यह बात स्वीकार नहीं की गई है। समग्र उत्तरकांड रामायण के कथानक से मेल नहीं खाता, ऐसा भी लगता है। जिस रामकथा का उद्देश्य आरंभ में ही महर्षि वाल्मीकि ने देवर्षि नारद या परमपिता ब्रह्मा के समक्ष प्रकट किया है, उसे लक्ष्य में लें तो राम का अयोध्या में पुनरागमन और पुनः सिंहासन पर अभिसिक्त होना, इस घटना के साथ ही महर्षि वाल्मीकि की, जो कथा उद्दिष्ट होनी लगती है, वह समाप्त होती है। उत्तर-कांड का कोई-न-कोई कथानक इसके पूर्व कहे गए वृत्तांत से एकदम अलग दिखाई देता है। उदाहरण के लिए, अहल्या के विषय में जो बात बालकांड में कही गई है, उससे एकदम विपरीत कथा उत्तरकांड में कही गई है। ऐसे दूसरे उदाहरण भी दिए जा सकते हैं।

रामायण की इस व्यापक लोकप्रियता के कारण उसके अनगिनत संस्करण हुए हैं। एक अनुमान के अनुसार हाल में (वर्तमान में) लगभग तीन सौ की संख्या में अलग-अलग रामायण उपलब्ध हैं। इन तीन सौ में से अठारह रामायण तो अकेले संस्कृत भाषा में ही हैं। वाल्मीकि कृत रामायण में चौबीस हजार श्लोक होने की गणना है, पर जो अन्य अठारह संस्कृत रामायण प्राप्त हैं, उनमें से कोई-कोई तो सवा लाख श्लोकों की भी हैं। इसके उपरांत पद्मचरित्र जैसे 'जैन रामायण', 'आनंद रामायण', 'दशरथ जातक' जैसे बौद्ध रामायण के उपरांत जावा-सुमात्रा या मलेशिया और इंडोनेशिया जैसे देशों में प्रचलित और लोकप्रिय मुस्लिम रामायण भी हैं। उत्तर भारत में जिस तरह तुलसीदास ने रामायण को नए सिरे से आलेखित किया, उसी तरह दक्षिण में कंबन रामायण प्रसिद्ध है। गुजरात में ऐसी ही एक गिरधर कृत रामायण प्रचलित है। ये सभी रामायण एक जैसी कथा नहीं कहते। जैन रामायण अधिकतर राम से लेकर हनुमान तक के सभी पात्रों को अंत में दीक्षा दिलवाकर कैवल्यधाम पहुँचा देती हैं। 'दशरथ जातक' में तो राम, सीता, दशरथ और रावण तक इन सब के संबंध भी बदल जाते हैं। कंबन अपनी रामायण में कथा की अपेक्षा कविता को विशेष महत्त्व देते हैं। वाल्मीकि जिस घटना को मर्यादित रूप में रखते हैं और तुलसीदास जिस बात को 'रघुकुल रीत सदा चलि आई' जैसे कालजयी राष्ट्रव्यापी शब्दों से मढ़ते हैं, वही बात कंबन बिलकुल आलेखित ही नहीं करते। इससे एकदम विपरीत, पर वर्तमान युग में ई.वी. रामस्वामी नामकर जैसे हेतु प्रेरितों ने तो समग्र रामायण में तमाम पात्रों और घटनाओं को द्वेष और विकृत अर्थघटनों से भी आलेखित किया है। महाभारत के विषय में सामान्य स्तर का कोई भी व्यक्ति ऐसा लिखने या ऐसा अर्थघटन करने का साहस शायद ही कर सकता है, क्योंकि महाभारत शांत लगता हो तो भी वह पैसिफिक महासागर है, जबकि रामायण छल-छल बहती गंगा, जमुना या सरयू जैसी सरिता है। थोड़ा तैरना आता हो या एकदम ही तैरना न आता हो तो भी खाली डिब्बे से लिपटकर नदी पार कर जानेवालों की संख्या अधिक होती है।

कोई भी कथा जन्म, मृत्यु और जीवन इस त्रिपरिमाण के बीच ही रचे जानेवाला उसके सर्जक का दर्शन ही हो

सकता है। इसके सिवा और कोई विकल्प है ही नहीं। रामायण और महाभारत भी इसके अपवाद नहीं हैं। मूल बात इनके सर्जक के दर्शन-भाव की ही होती है। महाभारत के रचयिता महामनीषी वेदव्यास ने जिंदगी की निष्फलता का भाव प्रधानत: आलेखित किया है। पूरे एक लाख श्लोक के अंत में भी व्यास ने दोनों हाथ उठाकर हताश भाव से कह दिया है कि 'न च कश्चित् श्रुणोति मे' धर्म के पालन से अर्थ, काम और मोक्ष तीनों की ही प्राप्ति होती है, फिर भी लोग धर्म का अनुसरण क्यों नहीं करते—यह शाश्वत प्रश्न व्यास ने महाभारत के अंत में स्वयं के साथ संवाद करते हुए इस तरह एकोक्ति रूप में प्रकट किया है।

रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि ने रामकथा के तमाम पात्रों को एक गूढ़ एवं सत्त्वशील सार्वत्रिक भाव से आवृत्त किया है। रामायण का यह सार्वत्रिक भाव है—प्रेम। रामायण के पात्र प्रेम-पदार्थ से कहीं-न-कहीं इस तरह संलग्न हुए हैं कि वाचक (पाठक) का चित्त यदि घटनाओं के आर-पार इस प्रेम-पदार्थ का दर्शन कर सके तो उसकी आँखें नम (गीली) हुए बिना नहीं रहें। राजा दशरथ राम को बेहद प्रेम करते हैं और इस प्रेम के फलस्वरूप प्राणत्याग भी करते हैं। लक्ष्मण राम के प्रति ऐसे अनुराग से जुड़े हैं कि जैसे अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व ही उन्होंने विलोपित कर डाला है। जम्हाई लेते हुए मुँह में आ पड़े बताशे जैसे राज्य को भी ठुकराकर भरत ने अद्‌भुत भ्रातृप्रेम दरशाया है। राम इन सबके प्रति अपार प्रेम रखते हैं। इसके असंख्य उदाहरण रामायण में मिल जाते हैं। हनुमान का राम के प्रति प्रेम या राम का हनुमान या सीता के प्रति प्रेम कोई उँगुली उठाकर दिखाने की बात नहीं है। मूर्च्छावश लक्ष्मण को अचेत अवस्था में देखकर राम ने कहा है कि 'तमं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदर।' लक्ष्मण राम के सहोदर अर्थात् एक ही माता के पेट से जनमे भाई नहीं हैं, फिर भी राम ने उन्हें सहोदर कहा है। अशोक वाटिका में बैठी सीता ने हनुमान के हाथ राम को जो संदेश भेजा है, उसमें कहा है कि लक्ष्मण तो मुझे राम से भी अधिक प्रिय हैं। कपिराज बाली का तारामती या अंगद के लिए प्रेम भी कोई कम नहीं। स्वयं दशानन रावण पुत्र इंद्रजित को अपार प्रेम करता है। पर प्रेम का एक सबसे अलग स्वरूप भी रावण में ही दिखाई देता है। रावण सबसे अधिक प्रेम अपने अहंकार से करता है। अहंकार के प्रति अपने नकारात्मक प्रेम के कारण ही इंद्रजित या कुंभकर्ण के प्रति उसके सकारात्मक प्रेम का करुण अंत हुआ।

इस तरह रामायण प्रधानत: प्रेमकथा है। यह प्रेमभावना जब से मनुष्य पैदा हुआ, उस समय से एक संकुल और अगम्य विभावना रही है। रामायण में तो वनवास में जाती सीता अपने अयोध्या में रहे-पाले पक्षियों की देखभाल करने के लिए जब सारथि (मंत्री) सुमंत्र को कहती हैं, तब इस प्रेम की पराकाष्ठा दिखाई देती है। दंडकारण्य में वृक्ष-लताओं को भी इस प्रेम का आस्वाद मिला है। इस प्रकार रामायण एक सर्वकालीन और शाश्वत प्रेमकथा बन पड़ी है। महाभारत के पात्र भी प्रेम से अलिप्त नहीं रहे, पर सदियों बाद हुए कबीरदास की एक पंक्ति उद्‌धृत करके कहें तो—

प्रेम गली अति साँकरी तामें दोउ न समाय।

इस कथन के अनुसार रामायण में पात्र परस्पर आत्मविलोपन करके एक बन सकते हैं। महाभारत के पात्र ऐसा नहीं कर सकते। द्रौपदी हो या अर्जुन, भीष्म हों या धृतराष्ट्र—ये सभी सर्वप्रथम स्वतंत्र व्यक्तित्व ही बने रहते हैं और युद्‌ध के मैदान में कुछ क्षणों के लिए अर्जुन द्‌वारा कृष्ण के समक्ष किया हुआ आत्मविलोपन अपवाद मानें तो कोई पात्र स्वयं कृष्ण के समक्ष भी आत्म-समर्पण नहीं करता।

रामायण को तुलसीदास और उनकी अनुवर्ती परंपरा ने अतिशय श्रद्‌धा और भक्तिभावपूर्वक आलेखित किया है। कभी-कभी इस श्रद्‌धा और भक्ति को सिरे से खारिज कर बौद्‌धिकता में चला लेने के लिए जान-बूझकर आयास करनेवालों ने विपरीत अर्थघटन भी किए हैं। पर अमुक घटनाएँ तो ऐसी लोकप्रिय और सर्वव्यापी स्वीकृति पाई हुई

हैं कि मूल कथानक में उनका नामोनिशान न होने के बावजूद अब ये घटनाएँ ही मानो असली हों, इस तरह से जन-मानस में आरूढ़ हो चुकी हैं। उदाहरण के लिए, अंधे माता-पिता को काँवर में बैठाकर यात्रा पर ले जाते श्रवण का कथानक, शबरी द्‌वारा रखे जूठे बेर को प्रेमपूर्वक खाते राम की बात, नदी पार उतारते समय नाव पर चढ़ने से पहले राम के चरण धोने का आग्रह रखते निषाद की बात—ये सभी ऐसे ही कथानक हैं। सर्जक के पारसमणि संस्पर्श को पाकर मूल कथानक नए कलेवर धारण करें—यह बात कोई नई नहीं। राजा दुष्यंत की अँगूठीवाला जो प्रसंग कालिदास ने आलेखित किया है और शाप की जो कथा उन्होंने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में पिरोई है, वह महाभारत के शकुंतला के मूल आख्यान में कहीं भी नहीं है। इसके बावजूद इस समय यह अँगूठी और शाप की बात सचमुच की हो—ऐसी सर्वस्वीकृति पाई है। कला के ऐसे अनोखे संस्पर्श के बिना, जिन्होंने मूल कथानक को अलग रूप में प्रस्तुत किया है, वे सभी काल की गर्त में विस्मृति को प्राप्त हुए हैं। महाकवि भास का 'प्रतिमा' नाटक हो या 'उरुभंग' हो, उसमें कैकेयी या दुर्योधन को ऊँचे आसन पर बिठाने के लिए मूल कथानक में खासा फेरबदल किया गया है, पर इन नाटकों ने लोक-हृदय में स्थान प्राप्त नहीं किया। इसी तरह रामायण की मूल घटनाओं के साथ अन्य अनुवर्ती रामायणकारों ने वाल्मीकि से अलग जाकर जहाँ मार्ग बनाया (गढ़ा) है, वहाँ तुलसीदास को छोड़कर कोई अधिक सफल नहीं हुआ, इस पर गौर करना चाहिए।

अपनी इस भव्य सांस्कृतिक विरासत पर हम गौरव अवश्य अनुभव करें, पर यह गौरव बिना समझ के केवल भड़ास बनकर रह जाए तो 'गौरव' शब्द को हानि पहुँचती है। गौरव अनुभव करने का अधिकार भी ऐसे वारिसदारों को ही होता है कि जो अपनी ऐसी विरासत को समझ या पहचान सकते हैं। भक्ति और श्रद्‌धा का कोई निषेध नहीं होना चाहिए। पर असली जरूरत ऐसी ही विशुद्‌ध भावना की होनी चाहिए। भक्ति और श्रद्‌धा, दोनों हाथों से ताली बजाने से दृढ़ नहीं होती है, उलटे उसका अवमूल्यन होता है। रामायण में पात्र, फिर वे मर्यादा पुरुषोत्तम राम हों या कि राम की प्रतीक्षा में आयु बिता देनेवाली शबरी हो—ये सभी हमारी वंदना के अधिकारी हैं। उनकी वंदना तो हम अवश्य करें, पर उसके साथ ही महर्षि वाल्मीकि ने हमें इन सबका जो दर्शन कराया है, वह दर्शन भी निर्मल आँख और विशुद्‌ध चित्त से करें। हमारी आँख और चित्त पर सदियों से कथाकारों ने अथवा अन्य उद्‌देश्यों ने कोई-न-कोई अन्य रंग भी उकेरे हैं, उनमें निरे भक्तिभाव के कारण कहीं ऐसा ऊँचा ग्राफ खींचा है, तो कहीं जैसा है वैसा देखने के बदले हेतु प्रेरित विकृतियाँ भी जोड़ी हैं। यहाँ इसके बाद के पृष्ठों में इन पात्रों के दर्शन करने का जो उपक्रम सोचा है, उसमें ऐसी विशुद्‌ध और निर्मल भक्ति एवं श्रद्‌धा भरपूर होने के साथ ही बौद्‌धिक समझ भी बरकरार रखने की कोशिश की है। इस सहदर्शन में शामिल होनेवाले सभी लोगों से भी यही अपेक्षित है कि समझदारी और बुद्‌धि के दरवाजे, जिसमें ताजी हवा प्रवेश कर सके, ऐसे और इतने तो अवश्य खुले रखें। जहाँ बुद्‌धि और भक्ति या श्रद्‌धा बीच में अनिर्णीत रहे, ऐसा संघर्ष पैदा हो, वहाँ बुद्‌धि को प्राधान्य देने जैसे अहम का अवश्य निषेध करें। बुद्‌धि की मर्यादा के स्वीकार के बाद ही रामायण अथवा महाभारत जैसे ग्रंथों के सौंदर्य का आस्वाद लिया जा सकता है। यहाँ चिकित्सा-विज्ञान का विच्छेदन उपयोग में नहीं लाया जा सकता है, इस स्पष्टता के साथ इस सहयात्रा में सम्मिलित होने का सहृदयों को आमंत्रण है।

जो घटनाएँ सर्वविदित हैं, उन घटनाओं की बात यहाँ बार-बार नहीं करनी है। घटनाओं के उल्लेख मात्र से इन-उन पात्रों का व्यक्तित्व प्रकट होता है, उस व्यक्तित्व के पहलुओं (दृष्टिकोण) को पहचानने का, पहचानने के बाद स्तुत्य लगे तो उनकी वंदना करने और अपनी मर्यादित बुद्‌धि-शक्ति से वह समझी न जा सके तो इस असमझ को स्पष्ट रूप से स्वीकार करके भी हमारी यह यात्रा कल्याण मार्ग पर चलती रहे—ऐसी मन:कामना के साथ रामायण के पात्रों की इस वंदना की मंगलयात्रा का प्रारंभ करेंगे। परंपरागत रामकथा के प्रारंभ से पूर्व हनुमानजी का आह्‌वान

करके कथाश्रवण किया जाता है। उन्हें सर्वप्रथम श्रोता के रूप में निमंत्रित किया जाता है। रामकथा के अंत में स्वयं राम ने हनुमान को यह वरदान भी दिया है। जहाँ-जहाँ रामकथा होती है, वहाँ-वहाँ हनुमान अदृश्य रूप में उपस्थित होकर उसका श्रवण करते हैं—ऐसी लोकमान्यता है। हमारी इस कथा के मंगलाचरण के क्षण में भी हम हनुमानजी से ही कथा का प्रारंभ करेंगे।

❑

—२—

हनुमान

देश भर में नगर या शहर ही नहीं, कोई गाँव या कस्बा तक ऐसा नहीं होगा जहाँ सार्वजनिक पूजास्थल के रूप में हनुमानजी प्रतिष्ठित न हुए हों। देवी-देवताओं के आँकड़े हिंदू धर्म में अन्य धर्मों की अपेक्षा बहुत अधिक है। ये सभी देवी-देवता विभिन्न नामों और स्वरूपों में विभिन्न वर्गों द्‌वारा पूजे जाते रहे हैं। उमा, जगदंबा, वाघेश्वरी, कालिका, अंबिका—इस तरह एक ही देवी विविध स्वरूपों और नामों से पूजी जाती है। इसी तरह हिंदू धर्म में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखनेवाले श्रीकृष्ण भी कहीं रणछोड़राय बने हैं तो कहीं श्रीनाथजी या फिर बालाजी के रूप में प्रस्थापित होते रहे हैं। शिव, श्रीकृष्ण और हनुमान ये तीनों ऐसे देवता हैं, जिन्होंने सबसे अधिक संख्या में प्रत्येक स्थल पर मंदिरों में स्थान पाया है। उसमें भी संख्या की दृष्टि से संभवत: हनुमान सबसे आगे रहे हैं। हनुमान के स्वतंत्र मंदिरों के उपरांत प्रत्येक राममंदिर तथा शिवमंदिर में हनुमानजी की प्रतिमा निश्चित रूप से रहती ही है।

यह एक आश्चर्यजनक घटना है, क्योंकि हनुमान ने हिंदू धर्म के किसी भी ग्रंथ में स्वतंत्र देवता के रूप में स्थान प्राप्त नहीं किया है। हनुमान का उल्लेख मात्र रामायण में ही किया गया है। रामायण के पूर्ववर्ती प्राचीन ग्रंथों में उनका कोई उल्लेख नहीं मिलता। मूल वेदों में हनुमान का उल्लेख ढूँढ़ निकालने के प्रयास कभी-कभार जरूर हुए हैं, परंतु ये प्रयास सफल नहीं हुए हैं। महाभागवत के अनुसार देवलोक में जब रामावतार की तैयारी हो रही होती है तो भगवान शिव कहते हैं कि मैं वायु-पुत्र के रूप में वानर स्वरूप होकर विष्णु की सहायता करूँगा। 'अहं वानर रूपेण संभूय पवनात्मज: सहाय्यं ते करिष्यामि।' इस प्रकार हनुमान को रुद्रावतार के रूप में परिचित कराने के प्रयास किए गए हैं।

विधर्मियों और विशेष रूप से ईसाइयों ने हनुमान की 'मंकी गॉड' कहकर पहचान करवाई है। हमारे यहाँ भी हनुमान की मूर्ति पारंपरिक रूप से वानरमुखी ही दरशाई जाती है। हनुमान तथा उनके अन्य साथी, जिन्होंने राम की सहायता की थी, वे वास्तव में बंदर ही थे, यह बात बुद्‌धिगम्य नहीं लगती। विद्‌वान् कभी-कभी ऐसा भी निष्कर्ष निकालते हैं कि किष्किंधा और उसके आस-पास रहनेवाले आदिवासी अपने ध्वज पर वानर का चित्र रखते थे, इसलिए संभवत: उन्हें वानर जाति के रूप में पहचाना गया हो। हनुमान, सुग्रीव, बाली, अंगद—ये सभी बुद्‌धिमत्ता, प्रतिभा, विद्‌वत्ता और समझदारी की दृष्टि से ऐसे अनोखे पात्र हैं कि उन्हें वानर या 'मंकी' नहीं कहा जा सकता। आज जिस अर्थ में हम 'रशियन रीछ' कहते हैं, ऐसे ही किसी अर्थ में ये आदिवासी वानर के रूप में जाने गए हों—यह अधिक प्रतीतिकर लगता है।

रामायण में हनुमान सर्वप्रथम सुग्रीव के सेवक के रूप में आते हैं। सुग्रीव बाली से भयभीत होकर छिपता-फिरता वानर है। इस बाली से भयभीत सुग्रीव की रक्षा उसके सेवक हनुमान नहीं कर सकते, ऐसा ही निष्कर्ष निकलता है। इसके बाद हनुमान राम के सेवक बने हैं और राम ने उन्हें बाली और रावण दोनों से अधिक बलवान तथा समर्थ होने की बात कही है। इस प्रकार समर्थ होने के बावजूद उनका स्थान तो एक सेवक का ही रहा है।

यहाँ एक रसप्रद बात पर ध्यान देना चाहिए कि हिंदू धर्म के देश भर में फैले मंदिरों में सर्वाधिक पूजनीय माने जाने वाले श्रीकृष्ण और हनुमान इन दोनों पात्रों के बीच महाभारत और रामायण में बहुत साम्य है। महाभारत में श्रीकृष्ण का प्रवेश कौरव-पांडवों की कथा के खासे बढ़ जाने के बाद ठीक द्रौपदी-स्वयंवर में पहली बार होता है। इसी प्रकार रामायण में हनुमान ठीक किष्किंधाकांड में, राम-लक्ष्मण जब रावण द्‌वारा अपहृत की गई सीता को

खोजने के लिए पर्वतों में भटक रहे हैं, उस समय पहली बार दिखाई देते हैं। कुरुकथा में प्रवेश करने के बाद श्रीकृष्ण ने समग्र घटनाओं की डोर अपने ही हाथ में रखी है। जो कुछ घटता है, उसमें संपूर्णत: श्रीकृष्ण ही एक या दूसरी तरह से कारणभूत रहे हैं और पांडवों को अंतिम विजय भी कृष्ण के कारण ही मिली है। इसी प्रकार रामायण में भी हनुमान के प्रवेश के पश्चात् ऐसी जो भी महत्त्व की घटनाएँ घटी हैं, जिनके कारण समूचे कथानक ने मोड़ लिया है, उन सभी का श्रेय हनुमान को ही जाता है। सुग्रीव और राम की मैत्री हो या फिर समुद्र को लाँघकर सीता की खोज करनी हो, मूर्च्छित पड़े लक्ष्मण को चेत में लाना हो या फिर रणभूमि में मूर्च्छावस्था में राम सहित तमाम वानरों की रक्षा करनी हो, इनके जैसे अन्य अनेक प्रसंगों में हनुमान ही राम की विजय के कारणभूत बने हैं।

श्रीकृष्ण ने, जैसे जो कुछ प्राप्त हुआ, उसे स्वयं अपने पास रखने के बदले सबकुछ यादव परिवार को समर्पित किया और स्वयं को उससे अलिप्त रखा, उसी तरह हनुमान ने भी विजय और सिद्धियाँ प्राप्त कीं तो उनका श्रेय अपने पास न रखकर श्रीराम के ही चरणों में अर्पित किया और स्वयं अदना सेवक ही बने रहे। इस तरह श्रीकृष्ण और हनुमान दोनों अतुल पराक्रमी, परम ज्ञानी तथा त्यागवीर बने रहे हैं। इस देश की जनता की सदैव यह मानसिकता रही है कि पराक्रम और ज्ञान के साथ यदि त्याग भी जुड़ा हो तो ऐसे व्यक्तित्व को वह सिर-आँखों पर चढ़ाती है। श्रीकृष्ण और हनुमान—ये दोनों सबसे अधिक संख्या में मंदिरों में प्रस्थापित हुए हैं, इसका रहस्य इसी भारतीय मानसिकता में निहित रहा है।

हनुमान के जन्म के विषय में भाँति-भाँति की कथाएँ प्रचलित हैं, किंतु वाल्मीकि रामायण में स्वयं हनुमान ने अपना परिचय देते हुए कहा है कि वे केसरी और अंजना के वायु से उत्पन्न पुत्र हैं। इस संबंध में वायु ने अंजना के साथ संबंध स्थापित करके हनुमान को जन्म दिया हो, ऐसा विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। वायु ने अंजना को पुत्ररत्न प्राप्त करने का आशीर्वाद दिया हो, ऐसा भी अर्थघटन हो, यह संभव है। जो भी हो, पर उगते सूरज को फल समझकर उसे पकड़ लेने के लिए कूदते बालक हनुमान की बात यहाँ उल्लेखनीय है। सूर्य की रक्षा करने के लिए इंद्र ने वज्र के प्रहार से हनुमान को वापस धकेल दिया। इससे कुपित होकर वायु ने बहना बंद कर दिया, परिणामस्वरूप वायु-विहीन जीवसृष्टि आकुल-व्याकुल हो गई तो पिता ब्रह्मा और देवराज इंद्र ने वायु को समझाया और हनुमान को अतुल बलसंपत्ति एवं चिरंजीवी होने का वरदान दिया। यम और शिव ने भी उसे मृत्युंजय बनाकर आयुधों से रक्षित किया। इस प्रकार हनुमान बाल्यावस्था से ही अनुपम बन रहे थे।

किष्किंधाकांड में सुग्रीव के सेवक के रूप में हनुमान जब प्रथम बार राम और लक्ष्मण से मिलते हैं तो वे ब्राह्मण रूप में हैं। राम-लक्ष्मण को ऋष्यमूक पर्वत की ओर आते हुए देखकर उन्हें बाली द्वारा भेजे गए, मायावी रूपधारी समझकर भयभीत हुए सुग्रीव ने हनुमान को पता लगाने के लिए आगे भेजा था। हनुमान को इच्छित रूप धारण करने का वरदान तो बाल्यावस्था में ही प्राप्त हो गया था। उस क्षण ब्राह्मण के रूप में हनुमान उनके पास जाकर शुद्ध संस्कृत भाषा में नम्रतापूर्वक उनसे वार्त्तालाप करते हैं। उनकी इस संभाषण कला से प्रभावित राम तत्काल लक्ष्मण से कहते हैं कि जिसने तीनों वेदों का ज्ञान प्राप्त किया हो और जिसने व्याकरण का पूर्ण अभ्यास किया हो, ऐसा व्यक्ति ही ऐसी बात कर सकता है। हनुमान के प्रथम बार प्रवेश करते ही महर्षि वाल्मीकि ने उनके लिए 'वाक्य कोविद' शब्द का प्रयोग किया है। पहली मुलाकात में ही हनुमान ने राम का विश्वास जीत लिया। इतना ही नहीं, अपने स्वामी का दु:ख निवारण करने के लिए राम की सहायता भी प्राप्त कर ली। अब तक सुग्रीव के निष्ठावान् सेवक रहे हनुमान ने श्रीराम के सहज स्पर्शमात्र से जो अभिनव रूप दिखाया है, उसकी कथा तो एक अद्भुत और रोमांचकारी अनुभव है।

बाली के वध के बाद विलाप करती उसकी पत्नी तारामती को हनुमान ज्ञान और व्यावहारिक जीवन का समन्वय

करके सांत्वना देते हैं और अंगद का युवराज के पद पर अभिषेक करने के लिए सुग्रीव को सलाह भी देते हैं। इतना ही नहीं, राज्याभिषेक के बाद सीता की खोज में सुग्रीव ने जो प्रमाद दिखाया, उसके लिए हनुमान ने उन्हें चेतावनी भी दी है। बाली-वध के तुरंत बाद वर्षा ऋतु प्रारंभ हुई, इसलिए वर्षा की समाप्ति के बाद शरद ऋतु में सीता की खोज के लिए प्रयास करने के समझौते के साथ राम-लक्ष्मण किष्किंधा नगरी के बाहर पर्वत पर रह रहे थे। शरद ऋतु शुरू हुई, इसके बाद भी अपना वचन भूलकर विलास में लिप्त राजा सुग्रीव से हनुमान निर्भीकता, किंतु नम्रतापूर्वक जो कहते हैं, वह व्यावहारिक जीवन का एक उत्तम पक्ष है। हनुमान एक मनोवैज्ञानिक की तरह सुग्रीव से कहते हैं कि श्रीराम याद दिलाएँ, इससे पूर्व यदि हम यह काम शुरू कर देंगे, तभी हमने काम किया है, ऐसा कहा जाएगा। जो काम हमें करना ही है, वह काम दूसरों द्वारा याद दिलाए जाने के बाद करने से सिद्ध हुए काम का मूल्य घट जाता है। सुग्रीव को इस तरह समझाकर हनुमान मात्र सेवक की ही भूमिका नहीं अदा करते, बल्कि एक समझदार मित्र और मनोविज्ञान के अनुभवी विद्वान् के रूप में स्वयं को प्रस्तुत करते हैं।

सीता की खोज के लिए जब वानरों के अलग-अलग दल चारों दिशाओं में रवाना हुए तो दक्षिण दिशा में हनुमान और अंगद जैसे सबसे अधिक समर्थ और विश्वासपात्र वानरों को भेजा गया। यहाँ कभी कोई बौद्धिक विश्लेषक ऐसा प्रश्न करे, ऐसी संभावना है कि सीता का हरण रावण ने ही किया है, यह बात जटायु के माध्यम से राम जान चुके थे और रावण लंका का राजा है, यह बात भी किसी से छिपी हुई नहीं हो सकती थी। ऐसी स्थिति में इस तरह सीता की खोज करने के लिए प्रयास करने से कौन सी लाभदायक परिस्थिति का निर्माण हो सकता था, यह बात समझ में नहीं आती। सीता की खोज के लिए दक्षिण दिशा में अर्थात् लंका की दिशा में रवाना हुए हनुमान के हाथ में अपने परिचय के प्रतीक स्वरूप अपनी अँगूठी देते हुए राम ने कहा है कि इस अँगूठी से सीता हनुमान का विश्वास कर सकेंगी। इसका अर्थ स्पष्ट है कि दूसरे वानर भले दूसरी दिशा में गए हों, पर सीता की खोज तो दक्षिण दिशा में जा रहे हनुमान ही कर सकेंगे, क्योंकि रावण का राज्य दक्षिण दिशा में ही है, इस बात से सभी अवगत थे। यहाँ यह प्रश्न अनुत्तरित ही रहता है कि यदि सीता का अपहरण रावण ने ही किया है, और रावण लंका का राजा है, यह सर्वविदित सत्य था तो फिर सीता की खोज के लिए इतना श्रम और समय क्यों व्यर्थ किया गया होगा!

हनुमान के सेवक-कर्म का श्रेष्ठ लक्षण तो वे राम से मिले, उससे पहले ही प्रकट हो चुका है। बाली और सुग्रीव के बीच जब संघर्ष हुआ तो उस समय सुग्रीव के पक्ष में न्याय था। यह जानने के बाद हनुमान सुग्रीव के पक्ष में रहे हैं। वास्तव में हनुमान किष्किंधा के राजसेवक हैं, ऐसी स्थिति में यदि वे अपेक्षाकृत अधिक बलवान बाली के पक्ष में रहते तो स्वयं अनेक कष्टों से मुक्त रहते। इतना ही नहीं, सुग्रीव और राम के बीच मैत्री भी हनुमान की अनुपस्थिति में संभव नहीं हो सकती थी। यदि ऐसा हुआ होता तो रामायण की घटनाओं ने भिन्न मोड़ ही लिया होता। पर हनुमान ने अपनी स्वयं सुरक्षा की चिंता किए बिना जिस पक्ष में न्याय था, पर दुर्बलता थी, वही पक्ष अर्थात् सुग्रीव का पक्ष लिया। इसमें हनुमान के चरित्र का एक विरल पक्ष प्रकट होता है।

सीता की खोज के विषय में सुग्रीव द्वारा किए गए प्रमाद से कुपित होकर राम ने लक्ष्मण को सुग्रीव के महल में भेजा। लक्ष्मण क्रोध में भरे महल में आ रहे हैं, यह जानते ही सुरा और सुंदरी के बीच मदहोश पड़े सुग्रीव के होश-हवाश उड़ गए। ऐसे नाजुक क्षण में हनुमान सुग्रीव से जो व्यवहार-कुशलता और धर्मनिष्ठा की बातें करते हैं, उसमें हनुमान का चरित्र एक सेवक का नहीं, बल्कि एक परम हितेच्छु मित्र अथवा राजा का कल्याण चाहनेवाले एक मंत्री के रूप में उभरकर सामने आता है।

इसके बाद सीता की खोज के लिए दक्षिण दिशा में गए हनुमान सहित समस्त वानर जब सुग्रीव द्वारा निश्चित की गई समय-मर्यादा में यह काम करने में निष्फल हुए तो उस समय जिस प्रसंग का आलेखन हुआ है, उसमें

हनुमान एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ और वीर पुरुष के रूप में प्रकट हुए हैं। समय पूरा हो गया है और सीता का कोई अता-पता नहीं चल पाया है, इस हताशा से सभी वानर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए और यदि इस निष्फलता के साथ वे वापस लौटेंगे तो सुग्रीव सभी को कठोर दंड देंगे—इस भय से व्याकुल भी हो गए। अंगद ने तो वापस लौटने से ही इनकार कर दिया और सुग्रीव के समक्ष जैसे विद्रोह कर रहा हो, इस तरह अन्य वानरों को भी उसने अपनी ओर खींच लिया। हनुमान ने देखा कि सभी वानरों ने अंगद के साथ मानसिक सहकार कर लिया है तो उन्होंने इन सभी वानरों को धैर्य, भेद आदि सभी उपायों से समझाया है। सुग्रीव के विरुद्ध यदि सभी वानरों को साथ लेकर कोई योजना बनाएगा तो केवल सुग्रीव ही नहीं, बल्कि राम-लक्ष्मण की भी शत्रुता का सामना करना पड़ेगा, यह बात हनुमान अंगद को समझाते हैं। हनुमान के समझाने से अंगद का साथ छोड़ने के लिए अन्य वानर तैयार तो हुए, परंतु अंगद ने आमरण उपवास करके वहीं प्राण-त्याग करने का निश्चय किया। ठीक उसी क्षण जटायु के भाई संपाति का आगमन हुआ और हनुमान के कथनों को अनुमोदन मिला। सीता अब बिलकुल समीप ही हैं, यह संपाति से जानकर अंगद ने भी आत्मविलोपन का विचार छोड़ दिया और सबके साथ मिलकर समुद्र लाँघने के विषय में विचार किया।

सौ योजन विस्तृत समुद्र को लाँघ जाना एक दुष्कर कार्य था। सभी वानरों ने जब अपनी असमर्थता प्रकट की तो हनुमान चुपचाप शांति से बैठे रहते हैं। सबसे वरिष्ठ साथी जांबवान् ने हनुमान के इस मौन को देखकर कहा कि अब इस काम को पूरा करने के लिए हनुमान के अतिरिक्त अन्य कोई समर्थ नहीं है। उत्तरकांड में एक ऐसी भी कथा है कि हनुमान के पास अतुल सामर्थ्य था, किंतु बाल्यावस्था में ऋषि के शाप के कारण उन्हें उसका विस्मरण हो गया था। इस अतुल शक्ति का उन्हें पुनः स्मरण तभी हो सकता था, जब कोई उसकी स्मृति को ताजा करवा दे। जांबवान् ने उस क्षण यह काम किया। इसका मनोवैज्ञानिक अर्थ यह भी हो सकता है कि संकट के क्षण में व्यक्ति में अपूर्व चेतना का संचार हो सकता है, पर उसकी पूर्व शर्त यही है कि काम करनेवाला व्यक्ति निष्ठावान् होना चाहिए और काम के प्रति वह पूरी तरह समर्पित हो। समस्त वानरों में सीता की खोज के लिए हनुमान से अधिक निष्ठावान् और समर्पित अन्य कोई नहीं था।

समुद्रोल्लंघन कर रहे हनुमान के समक्ष भय और प्रलोभन के क्षण उपस्थित हुए थे। सुरसा नाम की शापग्रस्त राक्षसी हनुमान का भक्षण करने के लिए आगे बढ़ी। ब्रह्मा द्वारा दिए वरदान के कारण वह हनुमान को अपने जबड़ों के बीच ग्रस लेने में समर्थ भी थी। संकट के ऐसे क्षण में जब बुद्धि मुरझा जाती है और शक्ति क्षीण हो जाती है, उस समय हनुमान का एक अभिनव रूप प्रकट होता है। नीचे असीम समुद्र ठाठें मार रहा है, ऊपर सीमा-रहित आकाश फैला है। कुछ ही योजन दूर राक्षसों की नगरी लंका है और आँखों के सामने अपने विशाल जबड़ों को फैलाकर हनुमान का भक्षण करने के लिए आगे बढ़ रही है राक्षसी। इस नाजुक घड़ी में हनुमान आँख झपकते ही अपनी काया संकुचित कर अँगूठे जितनी छोटी करके सुरसा के जबड़े में प्रवेश कर गए। विकराल जबड़े फैलाकर अपने भक्ष्य की इधर-उधर खोज कर रही सुरसा सहसा विलीन हो गई। और फिर ब्रह्मा का वरदान सफल करके उसके जबड़े से बाहर निकले हनुमान को देखकर वह स्तब्ध हो गई। इस तरह ब्रह्मा का वरदान पूर्ण हुआ, हनुमान मुक्त हुए और सुरसा को भी मोक्ष मिला।

सुरसा के भय से मुक्त हुए तो समुद्र-तल से प्रकट होकर मैनाक पर्वत के प्रलोभन ने हनुमान का मार्ग रोक लिया। समुद्र के तल पर स्थित मैनाक रमणीय और सुगंधित पर्वत था। मैनाक ने उन्हें थोड़ी देर विश्राम करने और भोजन करने का आमंत्रण दिया। लंबे और अनजाने प्रवास पर जा रहे हों और उसमें भी यदि किसी कठोर परिस्थिति से होकर गुजर रहे हों तो विश्राम का ऐसा प्रलोभन टाल पाना संभव नहीं। लेकिन जब कोई निश्चित लक्ष्य सिद्ध करना

हो तो विश्राम का प्रलोभन टालना आवश्यक होता है। अत: हनुमान मस्तक झुकाकर मैनाक पर्वत का सहज स्पर्श कर कृतज्ञता प्रकट करते हैं और फिर अपने मार्ग पर आगे बढ़ते हैं। कार्य-सिद्धि के मार्ग पर जीवन में भय और प्रलोभन दोनों विघ्न रहते ही हैं। जो इन विघ्नों को लाँघ सकते हैं, वही समुद्र लाँघ सकते हैं।

समुद्र लाँघकर सफलतापूर्वक लंका के दुर्ग के बाहर पहुँचे हनुमान ने रात्रि के समय लंका में प्रवेश किया है। लंका की रक्षा लंकिनी नामक एक आसुरी शक्ति कर रही है। रावण के पास असीम सामर्थ्यवाले योद्धाओं का अभाव नहीं था, तथापि संपूर्ण लंका की सुरक्षा का उत्तरदायित्व उसने एक स्त्री को सौंपा है, यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। नैतिक रूप से जो निर्बल हैं, बाहुबल में वे भले ही प्रचंड हों, पर अपनी रक्षा के लिए वे स्त्री का सहारा लेने की युक्ति आजमाते रहते हैं। सुग्रीव ने लक्ष्मण के रोष से बचने के लिए तारामती को आगे कर दिया था, इस घटना का यहाँ स्मरण दिलाना आवश्यक है। स्त्रियाँ अवध्य हैं, यह भले ही धर्म-विहित माना जाता हो, किंतु स्त्री भी यदि आततायी बन जाए या आततायी की रक्षा करने लग जाए तो उसका वध करना भी धर्म्य है। राम ने जिस प्रकार ताड़का का वध किया, कृष्ण ने जिस तरह पूतना का संहार किया, उसी तरह हनुमान ने भी लंकिनी का वध करके लंका में प्रवेश किया।

रावण के अंत:पुर में मध्यरात्रि में अस्त-हालत में सोई स्त्रियों को हनुमान ने सीता का पता लगाने के लिए अत्यंत निकट से और ध्यानपूर्वक देखा। उनमें से एक भी स्त्री में सीता के लक्षण नहीं दिखाई दिए। किंतु उन स्त्रियों को रात्रि के एकांत में इतनी निकटता और इतने ध्यानपूर्वक देखा—इससे वह धर्मच्युत हुए हैं, इस अपराध-बोध से हनुमानजी ग्रस्त हो गए; परंतु तत्काल उनका गहरा धर्म-बोध जाग्रत् हुआ और अपनी इस हीन-भावना का परित्याग करते हुए स्वयं से कहा कि ऐसी अवस्था में इन स्त्रियों को ध्यानपूर्वक देखने के बावजूद मेरे मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं हुआ। इंद्रियों की शुभ अथवा अशुभ प्रवृत्ति की प्रेरणा तो मन में ही होती है और मेरा मन तो पूर्णत: स्वस्थ है। हनुमान के इस समाधान में उनकी मनोवृत्ति और कार्य के प्रति उनकी एकनिष्ठता प्रकट होती है। सीता के सिवाय उनकी नजर के सामने दूसरा कोई भी उद्दिष्ट नहीं। अर्जुन के लक्ष्यबेध जैसी ही है यह बात। इन स्त्रियों के बीच सोई अत्यंत रूपवती और तेजस्विनी मंदोदरी को देखकर हनुमान उसे एक क्षण के लिए सीता मान लेते हैं। पर दूसरे ही क्षण उनकी तर्कशक्ति सतेज हो जाती है और वे सोचते हैं कि राम के वियोग में सीता ऐसी सुखद शैया पर इस तरह गहन निद्रावश नहीं हो सकतीं। यह स्त्री तो सीता हो ही नहीं सकती। हनुमान की विशुद्ध तर्कशक्ति और विलक्षण निरीक्षण का यह उत्तम उदाहरण है।

अशोक वाटिका में सीता को देखते ही हनुमान की कुशाग्र बुद्धि पुन: प्रज्वलित हो उठती है। रात्रि बीत चुकी है। प्रात:काल की लालिमा फैल रही है, ऐसे समय में वामन रूप धारण कर वृक्ष की शाखा पर बैठे हनुमान ने सोचा कि सीता के साथ यदि मैं संस्कृत भाषा में बात करूँगा तो वह शायद इसे रावण का कोई आसुरी षड्यंत्र मान लेंगी। ऐसा सोचकर हनुमान अयोध्या प्रदेश में जो स्थानीय भाषा बोली जाती थी, उसी भाषा में बात करने का निर्णय करते हैं। इसके बाद इसी स्थानीय बोली में राम की कुलकथा और रामकथा कहते हैं।

इस प्रकार सीता का विश्वास अर्जित करके परिचय स्थापित करने के बाद हनुमान यह भी विचार करते हैं कि युद्ध का परिणाम हमेशा अनिश्चित होता है और उसमें महासंहार होता है। इसके अतिरिक्त यह एक लंबी प्रक्रिया भी है। ऐसी स्थिति में सीता यदि इसी समय उनकी पीठ पर बैठ जाएँ तो हनुमान बिना किसी भय के उन्हें राम के पास पहुँचा सकते हैं। लेकिन हनुमान के इस प्रस्ताव को सीता स्वीकार नहीं करतीं। वह कहती हैं कि ऐसा करने से राम की वीरता को कलंक लगेगा और मैंने स्वेच्छापूर्वक पर-पुरुष का स्पर्श किया है, यह निष्कर्ष भी निकलेगा। सीता का यह तर्क हनुमान ने स्वीकार कर लिया।

सीता के साथ संवाद पूरा करने के बाद हनुमान ने एक अत्यंत विलक्षण विचार किया। सुंदरकांड के इकतालीसवें सर्ग में हनुमान ने जो तार्किक मुद्दे लक्ष्य में लिये हैं, वे हनुमान के व्यक्तित्व को समझने में अत्यंत सहायक सिद्ध हो सकते हैं। शत्रु के नैतिक बल को तोड़ने और सैनिक दृष्टि से लंकानगरी की संरचना के विषय में पूरी जानकारी प्राप्त करने का उनके लिए यह एक अच्छा अवसर था। लंका में यदि वे कोई उत्पात मचाकर सामर्थ्य का प्रदर्शन करें तो उससे राक्षसों का मनोबल टूट जाएगा और सबमें एक प्रकार का भय व्याप्त हो जाएगा। लंकिनी की सुरक्षा में निश्चिंत लंकानगरी में स्वयं लंकिनी की ही हत्या करके शत्रुपक्ष का कोई योद्धा प्रवेश कर जाए; इतना ही नहीं, अत्यंत गोपनीय ढंग से अशोक वाटिका में बंदी बनाकर रखी सीता का पता लगा ले और फिर वापस जाते हुए रावण की आँखों के सामने ही उसकी नगरी में उत्पात मचाया जा सके तो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से राम की आधी विजय तो अकेले हनुमान द्वारा ही प्राप्त हो जाएगी।

यद्यपि इसमें खतरे की भी पूरी-पूरी संभावना थी। ऐसा करने से रावण को पहले से ही राम के संभावित सैनिक अभियान का पता चल जाता, इसकी पूरी-पूरी संभावना थी। यही नहीं, हनुमान यदि पकड़े जाएँ तो सीता की खोज करने का राम द्वारा सौंपा गया कार्य भी अधूरा रह जाएगा, यह भी तय था। यहाँ हनुमान ने अपनी वीरता और अपने सामर्थ्य पर आश्चर्यजनक विश्वास प्रकट किया है और शत्रु की छाती के सामने अकेले अपने बल पर उसका मनोबल तोड़ने का प्रचंड साहस किया है। शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए साम, दाम, दंड और भेद—ये चार उपाय हैं। हनुमान ने सोचा कि इन राक्षसों पर साम अर्थात् समझाने-बुझाने का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। समग्र लंकानगरी स्वर्णमयी है, इसलिए उनके पास धन का अभाव नहीं है और उन पर दाम अर्थात् धन का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ने वाला है। उन्हें अपनी शक्ति पर अतिशय अभिमान है, इसलिए उन पर भेदनीति का भी अनुसरण नहीं किया जा सकता है।

ऐसी स्थिति में अंतिम विकल्प जो शेष बचता था, वह दंड का था और हनुमान ने इसी विकल्प का अनुसरण किया। इतना विचार करने के बाद हनुमान ने अशोक वाटिका में विध्वंस आरंभ किया और इस क्रम में उन्होंने उद्यान के वृक्षों, जलाशयों के उपरांत लता-मंडपों और चित्रशालाओं को भी तहस-नहस कर दिया। वहाँ जो भी राक्षस थे, उनको उन्होंने या तो मृतप्राय कर दिया या वध कर दिया। अशोक वाटिका में विध्वंस का यह कार्य यहाँ तक तो समझा जा सकता है, परंतु लंका के चैत्यप्रासाद का विध्वंस हनुमान के उत्कृष्ट चरित्र के लिए समस्या पैदा करता है। यह चैत्यप्रासाद लंका के राक्षसों के कुलदेवता का पूजा-स्थल था। हनुमान इस पूजा-स्थल के शिखर पर चढ़कर उसे तोड़कर गिरा देते हैं, पुजारियों को मार डालते हैं और वहीं खड़े होकर गर्जना भी करते हैं। चैत्यप्रासाद तोड़ने का यह कृत्य धार्मिक सहिष्णुता की आर्य-परंपरा के अनुरूप नहीं कहा जा सकता। मृत्यु प्राप्त शत्रु की मृतदेह का सम्मान करके अंत्येष्टि-संस्कार करनेवाली उज्ज्वल परंपरा में कहीं भी शत्रुओं का कोई पूजा-स्थल इस तरह तोड़कर गिराया गया हो, ऐसा दृष्टांत नहीं मिलता है। हनुमान को, चैत्यप्रासाद पूजा-स्थल है, इसकी पूरी जानकारी थी। फिर भी उन्होंने ऐसा कृत्य क्यों किया, यह प्रश्न सहज ही पैदा होता है।

किंतु रामायण और महाभारत इन दोनों कालजयी ग्रंथों के सबसे उत्कृष्ट कहे जानेवाले पात्रों के आचरण में भी कहीं-कहीं ऐसे विसंवाद दृष्टिगोचर होते हैं, जिनका निराकरण हमारी सीमित बुद्धि को नहीं सूझता।

अशोक वाटिका के विध्वंस का समाचार रावण के पास पहुँचा और क्रोधित रावण ने एक के बाद एक समर्थ राक्षस सेनापतियों को हनुमान से युद्ध करने के लिए भेजा। हनुमान ने अतुल पराक्रम दिखाया और रावण के पुत्र अक्षय कुमार सहित सभी का वध किया। अंत में इंद्रजित के हाथों वे बंदी बने।

तुलसी कृत रामायण में लंका में प्रवेश करते ही हनुमान को विभीषण की सहायता मिली थी, ऐसा उल्लेख है।

इसका अर्थ यह हुआ कि विभीषण युद्ध का कोई संकेत मिले, इसके पूर्व ही रावण का साथ छोड़कर राम के पक्ष में जाने के लिए मानसिक रूप से तैयार हो चुके थे। वाल्मीकि के कथानक में विभीषण, रावण के दरबार में जब इंद्रजित हनुमान को बंदी बनाकर लाता है, उस समय पहली बार दिखाई देते हैं। इससे पहले रावण और विभीषण के बीच सीता के विषय में भी कोई चर्चा-विचारणा होने का उल्लेख वाल्मीकि रामायण में नहीं मिलता। बंदी हनुमान भरी सभा में अपना परिचय देते हुए स्वयं को वानरराज सुग्रीव का प्रतिनिधि बताते हैं। इस अवसर पर वे 'सुग्रीव रावण के भाई हैं', इस बात का भी उल्लेख करते हैं। इस संबंध का दावा उन्होंने किस तर्क के आधार पर किया होगा, यह ज्ञात नहीं।

यहाँ हनुमान पुन: एक बार एक बहुत ही सुंदर मनोवैज्ञानिक विकल्प का प्रयोग करते हैं। सुग्रीव बाली के भाई हैं और बाली का राम ने मात्र एक बाण से ही वध कर डाला था, ऐसा कहकर हनुमान रावण को याद दिला देते हैं कि जिस बाली के हाथों तुम्हारी पराजय हुई थी, उस महाबली बाली को राम ने परास्त किया है, इसलिए राम के बल को कम करके न आँका जाए।

इसके बाद हनुमान द्वारा किए गए अपराध के लिए उन्हें मृत्यु का दंड दिया जाए, यह माँग राक्षसों की सभा में चारों ओर से उठने लगी। क्रोधित रावण इस माँग को स्वीकार करने के लिए लगभग तैयार हो गया है। उस समय विभीषण रावण को समझाते हैं कि हनुमान का वध करना धर्मविरुद्ध है। हनुमान बहुत भयानक शत्रु है और उसने अक्षम्य अपराध किया है—यह स्वीकार करने के बाद भी विभीषण ने रावण से हनुमान का वध न करने की विनती की है। इसके लिए उन्होंने दो कारण सामने रखे हैं। एक तो हनुमान राम के दूत हैं और धर्मप्रकृतिवाले, विद्वान् तथा समर्थ राजा शत्रु के दूत का वध नहीं करते। दूत सदैव अवध्य होता है, इसलिए रावण यदि हनुमान का वध करेगा तो उसके जैसे 'सत्पुरुष' के लिए यह लोकनिंदा का कारण सिद्ध होगा। दूसरे, यदि हनुमान का वध कर दिया जाएगा तो राम और लक्ष्मण रावण के साथ युद्ध करने का साहस ही नहीं करेंगे और यदि ऐसा हुआ तो ये सभी राक्षस, जो युद्ध के लिए उत्साहित और तत्पर हुए हैं, वे हतोत्साहित हो जाएँगे।

रावण ने आश्चर्यजनक रूप से इस तर्क को स्वीकार कर लिया। विभीषण के तर्क में सबलता से अधिक खोखलापन है, क्योंकि हनुमान ने लंका में राम के दूत के रूप में नहीं वरन् गुप्तचर के रूप में प्रवेश किया था। इतना ही नहीं, दूत के लिए जो आचरण निर्धारित हुए हैं, उनमें कहीं अकारण हिंसा करके आतंक फैलाने जैसे कर्म को स्वीकृति नहीं है। हनुमान उस समय बंदी थे, शत्रु के गुप्तचर थे और आतंकवादी भी थे। रावण जैसे विलक्षण बुद्धिवाले व्यक्ति के लक्ष्य में यह बात नहीं आए और विभीषण के नितांत निर्बल तर्कों को स्वीकार करके, हनुमान की पूँछ जलाने जैसे साधारण दंड से संतुष्ट हो जाए, यह बात रावण के पात्र को ध्यान में रखते हुए सहसा गले के नीचे उतरे, ऐसी नहीं है।

पूँछ में आग लगाने की इस युक्ति को भी हनुमान तो आशीर्वाद ही समझते हैं, क्योंकि पूँछ में आग लगाने के बाद जब मुक्त हो जाएँगे तो उन्हें एक बार फिर पूरी लंकानगरी, उसके दुर्गों और द्वारों आदि को दिन के उजाले में देखने का अवसर मिल जाएगा। इस विचार से उन्हें संतोष ही हुआ। इसके बाद हनुमान ने जो लंकादहन किया, उसमें नगर के स्त्री-बालक तक होम हो गए।

कोई भी विचार या विवेक लक्ष्य में लिये बिना उन्होंने आतंक फैलाया है। इसके बाद स्वयं हनुमान भी भस्मीभूत हुई लंकानगरी को देखकर क्षुब्ध हुए हैं और उन्होंने क्रोध के वश होकर कैसा कुत्सित काम कर डाला है, इस भाव से घिर गए हैं। उन्होंने इस तरह शायद सीता को भी भस्मीभूत कर डाला है, इस विचार से राम के पास वापस लौटने के बजाय समुद्र में डूब मरने का विचार भी करते हैं और लंकादहन के अपने कृत्य को 'कपित्वमनवस्थितम्'

अर्थात् वानरोचित चपलता कहकर पश्चात्ताप के भाव से एक क्षण के लिए घिर जाते हैं।

लंका से किष्किंधा वापस लौटने के बाद हनुमान ने स्वयं यह वृत्तांत राम को दिया कि सीता की खोज कर ली है। जिस प्रकार राम की मुद्रिका द्वारा सीता के समक्ष हनुमान ने अपना परिचय दिया, उसी प्रकार सीता के पास से प्राप्त चूड़ामणि द्वारा उन्होंने राम को अपनी खोज की यथार्थता बताई है। हनुमान ने राम को यह वृत्तांत विस्तारपूर्वक सुनाया है। पर इसमें आश्चर्यजनक बात यह है कि उन्होंने अशोक वाटिका ध्वस्त की तथा जिस तरह लंकादहन किया, इसका कोई संकेत राम को नहीं दिया। लंकादहन की यह बात हनुमान ने राम से क्यों गुप्त रखी होगी, इसका एक स्पष्टीकरण हो सकता है। लंकादहन के बाद हनुमान जब समुद्र के दूसरे छोर पर साथी वानरों से मिलते हैं तो जांबवान् उनसे कहते हैं—''हे हनुमान! सीता की खोज की अपनी बात विस्तार से कहें, जिससे हम इसके बाद की अपनी योजना निश्चित कर सकें। किष्किंधा जाकर इसमें से कितनी बात कहनी है और कितनी बात गुप्त रखनी है, इस विषय में आप ही निर्णय करेंगे, क्योंकि आप बुद्धिशाली हैं।''

इस कथन में यह संकेत पढ़ा जा सकता है कि सीता की खोज की इस बात में कुछ गुप्त रखने लायक था और इस संदर्भ में हनुमान ने लंकादहन की यह बात राम से गुप्त रखी हो, ऐसा संभव है। यद्यपि इस बात को गुप्त रखने का क्या रहस्य हो सकता है, यह कल्पना से परे है।

सीता का पता लगाने के बाद लंका-विजय के लिए राम जब अपनी सेना के साथ किष्किंधा से प्रस्थान करते हैं तो वे हनुमान की पीठ पर आरूढ़ होते हैं। इस प्रकार लंका-विजय भले राम करनेवाले हों, किंतु इस समूचे अभियान का बोझ तो हनुमान को ही वहन करना है, इसका मानो यहीं संकेत मिल जाता है। स्वयं राम ने ही कहा है कि मैं हनुमान के कंधों पर चढ़कर सेना के मध्य में रहूँगा (लक्ष्मण अंगद के कंधों पर आरूढ़ हुए हैं।) यह प्रस्थान मध्याह्न समय में होने का स्पष्ट उल्लेख युद्धकांड के सर्ग-४, श्लोक-३ में मिलता है। श्रीराम सुग्रीव से कहते हैं —''सुग्रीव! इसी क्षण हम प्रस्थान करें। सूर्यदेव आकाश में आ पहुँचे हैं और इस अभिजित मुहूर्त में हमारा प्रस्थान उत्तम होगा।''

मध्याह्न में आरंभ हुए इस प्रस्थान में उसी सर्ग में सैंतालीवें से इक्यावनवें तक के श्लोकों में सूर्यदेव के उपरांत शुक्र, सप्तर्षि, ध्रुव, त्रिशंकु, विशाखा आदि तारों तथा नक्षत्रों के दिखाई दे रहे होने का उल्लेख है। दिन के समय ये तारे वहाँ कैसे दृश्यमान हुए, यह कल्पना का विषय है। सर्वाधिक आश्चर्यजनक बात तो यह है कि इसी सर्ग के अंत में पूरी सेना उसी दिन शाम को समुद्रतट पर पहुँच गई है, ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। जिस समुद्रतट तक पहुँचने में सीता का पता लगाने के लिए निकले हनुमान को एक महीना लग गया और उनका पता लगाकर वापस आने के बाद भी 'कुछ दिन' लग गए थे, उसी दूरी को राम की यह विराट् सेना (एक सौ करोड़ वानर, युद्धकांड : ४/३३) कुछ ही घंटों में कैसे पूरी कर पाई, ऐसा प्रश्न यदि किसी के मन में हो, तो उसका उत्तर यहाँ नहीं मिलता।

युद्ध के आरंभ होने से पहले विभीषण लंका त्यागकर राम का आश्रय लेने आ पहुँचे हैं, उस समय की जिन घटनाओं और संवादों का आलेखन महाकवि ने किया है, हनुमान के चरित्र को ध्यान में रखते हुए उनकी समीक्षा करना आवश्यक है। राम सहित समस्त वानर सेना के लिए विभीषण अपरिचित हैं, किंतु हनुमान के लिए वे अपरिचित नहीं हैं। लंकादहन के प्रसंग में हनुमान के वध के लिए उद्यत रावण समेत सभी राक्षसों को विभीषण ने ही धर्म के नाम पर रोका था। विभीषण के इस तर्क के कारण ही रावण ने हनुमान का वध नहीं किया था और उनकी पूँछ में आग लगाने का साधारण दंड दिया था। इस प्रकार विभीषण को धर्म के ज्ञाता के रूप में और निर्भयता से स्वयं रावण को भी धर्म का उद्बोधन करते हुए उन्हें हनुमान ने देखा था।

इस प्रकार विभीषण हनुमान के लिए अपरिचित नहीं थे। विभीषण को अपने पक्ष में स्वीकार करके उन्हें आश्रय

दिया जाए कि नहीं, इस विषय में राम सभी वानर सेनापतियों के मंतव्य जानना चाहते हैं तो सभी एक स्वर में विभीषण को आश्रय देने के प्रश्न पर सावधानी रखने की सलाह देते हैं और विभीषण के इरादे के प्रति आशंका व्यक्त करते हैं। उस समय हनुमान एक विलक्षण राजनीतिज्ञ के रूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं। राम जब हनुमान का मंतव्य पूछते हैं तो वे कहते हैं कि बाली-वध के बाद सुग्रीव को राज्य सौंपने के राम के कृत्य से विभीषण अवश्य ही अवगत होंगे, अर्थात् रावण-वध के बाद लंका का राज्य उन्हें मिले—इस मनोरथ से विभीषण राम के पक्ष में आए हों, यह अधिक संभव है। ऐसी स्थिति में उन्हें अपने पक्ष में स्वीकार करना अधिक उचित है।

यहाँ हनुमान ने विभीषण के संबंध में जो अनुमान किया है, उसका समर्थन आगे जाकर युद्धकांड सर्ग-५०/१८-१९ में हमें मिलता है। इंद्रजित के नागपाश में बँधे और लगभग मृत अवस्था में पड़े राम-लक्ष्मण को देखकर विभीषण जो विलाप करते हैं, उसमें इस तरह लिखा है—

ययोर्वीयमुपाश्रित्य प्रतिष्ठाकांक्षिता मया।
ताविमौ देहनाशाय प्रसुप्तौ पुरुषर्षभौ॥ (८)।
जीवन्नद्य विपन्नोऽस्मि नष्टराज्य मनोरथः।
प्राप्तप्रतिज्ञश्च रिपुः सकामो रावणः कृतः॥ (९)।

अर्थात् जिनके बल और पराक्रम का आश्रय लेकर मैंने लंका के राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित होने की अभिलाषा की थी, वे दोनों पुरुष-शिरोमणि यहाँ देहत्याग करने के लिए सोए हैं। आज मैं जीवित होते हुए भी मृत्यु प्राप्त किए के समान हूँ, क्योंकि राज्याभिषेक का मेरा मनोरथ नष्ट हो गया है। शत्रु रावण द्वारा की गई प्रतिज्ञा उसके पुत्र ने आज पूर्ण की है।

यहाँ निर्विवाद रूप से यह देखा जा सकता है कि विभीषण के विषय में हनुमान ने जो अनुमान किया था, वह शत-प्रतिशत सही था। इतना ही नहीं, हनुमान के इस अनुमान को मानो पुष्ट करने के लिए ही राम ने तत्काल विभीषण को मित्र के रूप में स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, रावण के वध से पूर्व ही उनका अभिषेक करके अब वे कहीं जा न सकें—ऐसी मीठी चाशनी भी दी है।

इसके बाद युद्धभूमि पर ऐसे अनेक प्रसंग आए हैं, जिसमें हनुमान मात्र वीरता के मूर्तिमंत रूप में ही नहीं, बल्कि सर्वतोमुखी प्रतिभासंपन्न और राम की विजय के एकमात्र माध्यम बने हैं। रावण की शक्ति का प्रतिकार करने में गहरे उतरे लक्ष्मण मूर्च्छित होकर युद्धभूमि में गिर पड़े तो रावण ने लक्ष्मण को उठाकर उनका अपहरण करने का प्रयास किया। उस समय हनुमान ने रावण पर प्रहार किया और मुष्ठिका- प्रहार से उसे भूमिसात् कर दिया। आहत रावण की इस अवस्था का लाभ लेकर हनुमान ने मूर्च्छित लक्ष्मण को उठा लिया और उन्हें राम के समक्ष ले आए। उस क्षण हनुमान ने मात्र वीरता ही नहीं दिखाई, बल्कि अपनी विलक्षण बुद्धि-प्रतिभा का भी परिचय दिया है, क्योंकि यदि एक क्षण का भी विलंब हुआ होता तो संभव है कि रावण लक्ष्मण को उठा ले जाता (युद्धकांड, सर्ग-५९)। इसके बाद भी संग्राम के दौरान दो बार ऐसे वृत्तांत हुए हैं कि जिनके बारे में यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि हनुमान के बिना राम की विजय संभव हो ही नहीं सकती थी।

इंद्रजित के मायावी युद्ध का प्रतिकार करने में राम-लक्ष्मण सहित समग्र वानरसेना रणभूमि में उतरी तो इसे लगभग मृतप्रायः अवस्था में मूर्च्छित कर दिया। राम-लक्ष्मण भी अचेत हो गए। पूरी सेना निश्चेष्ट अवस्था में रणभूमि में पड़ी थी, उसको देखने के लिए आए विभीषण से अर्धमूर्च्छित अवस्था में पड़े जांबवान् ने पूछा, ''हे विभीषण! मैं आपको मात्र अनुमान से पहचान पा रहा हूँ, क्योंकि अपनी आँखें मैं खोल नहीं सकता और मेरे समस्त अंग क्षत-विक्षत हैं। मैं आपसे मात्र एक ही बात जानना चाहता हूँ कि वायु-पुत्र हनुमान सुरक्षित हैं कि नहीं!''

अर्धमृतावस्था में पड़े जांबवान् ने सुग्रीव, अंगद, लक्ष्मण अथवा राम की सुरक्षा के विषय में कुछ नहीं पूछा, मात्र हनुमान की ही सुरक्षा की चिंता उन्हें थी, इस पर विभीषण ने आश्चर्य व्यक्त किया। प्रत्युत्तर में जांबवान् ने जो कहा है, वह हनुमान के समग्र योगदान और उनके चरित्र को सूर्य के प्रकाश की भाँति प्रकट कर देता है। जांबवान् ने कहा, ''यदि हनुमान सुरक्षित होंगे तो यह मृतप्राय: सेना भी सजीव हो सकेगी और यदि हनुमान मारे गए होंगे तो हम सब जीवित भी होंगे तो भी मरे के समान ही होंगे, क्योंकि हनुमान होंगे तो हम सभी जीवित हो सकेंगे।''

जांबवान् का यह कथन कितना यथार्थ था, यह तत्काल ही हनुमान ने सिद्ध करके बता दिया। हनुमान उस क्षण सुरक्षित थे और जांबवान् ने उन्हें शीघ्र ही हिमालय पर्वत पर कैलाश शिखर के समीप की चार श्रेष्ठ औषधियों को तत्काल लाने के लिए कहा। इन चार उत्तम औषधियों में मृतसंजीवनी औषधि भी थी। हनुमान जांबवान् द्वारा दी गई मार्गरिखा के अनुसार तत्काल हिमालय पहुँच गए।

यहाँ एक आश्चर्यजनक कथानक का उल्लेख वाल्मीकि ने किया है। वनस्पतियों का सजीवारोपण यहाँ दृश्यमान होता है। इन अद्भुत और दैवी औषधियों ने, हनुमान द्वारा उनका हरण होगा, इस भय से अपनी काया को अदृश्य कर लिया। हनुमान ने जब जांबवान् के बताए शिखर से इन औषधियों को अदृश्य देखा तो क्रोध में आकर उस पूरे शिखर को ही भूमि से अलग करके उखाड़ लिया। हनुमान वनस्पतियों को पहचान नहीं पाए, इसलिए उन्होंने पूरा पर्वत उखाड़ लिया—यह कथा वाल्मीकि रामायण में नहीं है। अदृश्य वनस्पतियोंवाले पर्वत को जब हनुमान ने समुद्रतट पर स्थित रणभूमि पर रखा तो इन वनस्पतियों की गंधमात्र से मूर्च्छित या मृत पड़े राम-लक्ष्मण सहित समस्त वानर योद्धा स्वस्थ और निरोगी होकर जाग्रत् हो गए। इसके बाद प्रभात की पहली किरण प्रकट हो, उससे पहले ही हनुमान इस पर्वत को वापस हिमालय पर रख आए।

यहाँ किसी भी जिज्ञासु के मन में यदि यह प्रश्न उत्पन्न हो कि हम जिसे आज लंका कहते हैं, उसके समुद्रतट से रात के कुछ ही घंटों में दो बार हजारों मील दूर स्थित हिमालय की यात्रा कैसे हुई होगी, तो इस प्रश्न का स्थूल अर्थ में कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता है। यहाँ हमें जो अभिप्रेत है, वह हनुमान का प्रचंड सामर्थ्य और उस सामर्थ्य का सार्वत्रिक स्वीकार है। इसके बाद फिर एक बार रावण के शक्तिप्रहार से लक्ष्मण मूर्च्छित हो गए। लक्ष्मण वीरगति को प्राप्त हुए हैं, इस आशंका से राम करुण विलाप करने लगे। उस समय सुषेण वैद्य के कहने पर हनुमान फिर एक बार हिमालय जाकर औषधियुक्त पहाड़ उठा लाते हैं। इस दूसरे प्रयास में ऐसा उल्लेख है कि हनुमान हिमालय पर स्थित वनस्पतियों को पहचानने में निष्फल रहे, इसलिए समूचे शिखर को ही उठाकर लाए। इस प्रकार हनुमान दो बार जीवन दाता बने हैं।

ऐसे भी उल्लेख हैं कि रावण अथवा इंद्रजित या कुंभकर्ण जब अपने रथ में बैठकर या विराट् मायावी रूप धारण करके युद्ध कर रहे होते थे तो राम हनुमान के कंधों पर बैठकर युद्ध में अपने पक्ष में वाहन की कमी को पूरा करने का प्रयास करते थे। इस प्रकार वाल्मीकि की कथा में विजय का सारा श्रेय भले ही राम को दिया गया हो, परंतु विजयश्री के इस प्रासाद की आधारशिला तो हनुमान ही रहे हैं।

विजय-प्राप्ति के पश्चात् सीता को यह शुभ समाचार देकर उन्हें राम के समक्ष ले आने का सबसे महत्त्वपूर्ण और प्रसन्नतादायक उत्तरदायित्त्व राम ने हनुमान को सौंपा था। हनुमान सीता के पास जाकर राम-विजय का यह समाचार तो देते ही हैं, पर उसके साथ ही सीता से कहते हैं, ''माता! लंका में आपके निवास के दौरान इन सभी राक्षसियों ने आपको अपार कष्ट दिया था। मैं इन सभी राक्षसियों का वध करके प्रतिशोध लेना चाहता हूँ।''

हनुमान का यह रोष एक जटिल समस्या को जन्म देता है। स्त्रियों के वध का कोई प्रतिबंध हमारे धर्मशास्त्रों में नहीं है। स्त्री भी यदि आततायी और धर्म विरोधी हो तो उसका वध धर्म्य ही माना गया है। भगवान् विष्णु ने भृगु ऋषि

की पत्नी का वध किया था, इसका उल्लेख रामायण में ही अन्यत्र कहीं है। इसके अतरिक्त राम ने ताड़का का और लक्ष्मण ने अधोमुखी नामक राक्षसी का इसके पहले वध किया था। शूर्पणखा का नासिका छेदन भी इसी श्रेणी में आता है। ये सभी स्त्रियाँ आततायी थीं और किसी स्वामी के आदेश पर ऐसा अत्याचारपूर्ण व्यवहार नहीं करती थीं। वे स्वयं अधर्म्य थीं। पर यहाँ अशोक वाटिका में सीता के आस-पास जो राक्षसियाँ रहती थीं, वे रावण की दासियाँ थीं और उन्हें अपने किसी स्वतंत्र व्यवहार की अनुज्ञा नहीं थी। उनका आचरण अधर्म्य हो तो भी उसका दोष उनके ऊपर नहीं लादा जा सकता। ये सभी स्त्रियाँ नि:सहाय थीं, नि:शस्त्र थीं, अनाक्रमक थीं और युद्ध भी समाप्त हो चुका था। उस समय इन स्त्रियों की हत्या कर देने का क्रोध या वैरभावना हनुमान में कैसे उत्पन्न हुई, यह प्रश्न पैदा होता है। यद्यपि यह आचरण हनुमान ने किया नहीं, क्योंकि सीता ने ही उनका यह रोष शांत कर दिया।

लंका-विजय के बाद सीता जब राम के समक्ष उपस्थित हुईं तो राम ने सीता के चरित्र पर शंका व्यक्त की और पत्नी को स्वीकार करने के बदले उन्हें अग्निपरीक्षा देने के लिए कहा। यह निर्देश सुनकर हनुमान सबसे पहले व्यथित और क्षुभित हो जाते हैं। उनकी यह व्यथा वाल्मीकि ने शब्दांकित नहीं की है, क्योंकि उन्हें हनुमान का चरित्र राम के प्रति पूर्णत: समर्पित दरशाना था, अत: राम के इस अकल्प्य आचरण पर मौन धारण किए रहते हैं। तथापि महर्षि वाल्मीकि ने हनुमान की इस नि:शब्द व्यथा का स्पष्ट संकेत तो किया ही है।

अयोध्या वापस लौट रहे राम ने अपने आगमन का समाचार नंदिग्राम में भरत को पहले से ही मिल जाए, इसके लिए हनुमान को ही रवाना किया है। जिस प्रकार अशोक वाटिका में सीता के पास राम का संदेश हनुमान ले जाते हैं, उसी प्रकार अब नंदिग्राम में भरत को अपने आगमन का समाचार देने लिए राम हनुमान के सिर पर ही कलश रखते हैं, यह अत्यंत सांकेतिक है। लंका से वापस लौट रहे राम जब प्रयाग के निकट पहुँचे, उस समय यहीं से उन्होंने हनुमान को आगे भेजा (युद्धकांड : १२५/१२-१३)। लंका से प्रयाग पहुँचने में उन्हें पाँचेक दिन लगे होंगे, ऐसा लगता है (युद्धकांड १२५/२३-२४)। प्रयाग से अयोध्या एकदम नजदीक है, ऐसे में हनुमान को जल्दी भेजने के पीछे का कारण हमें अन्य विचार की ओर खींच ले जाता है और यह विचार हम राम के पात्र की वंदना करते समय यथासमय और यथास्थान पर करेंगे। यहाँ उसका विशेष औचित्य नहीं है।

राम के आगमन का शुभ समाचार हनुमान से प्राप्त कर प्रसन्न हुए भरत द्वारा हनुमान को तरह-तरह की भेंट दिए जाने का उल्लेख वाल्मीकि ने किया है। उनमें एक लाख गायों, सौ जनपदों और सोलह सुंदर कन्याओं का समावेश है। इन सोलह कन्याओं के उल्लेख मात्र से कुछ विद्वानों ने हनुमान के ब्रह्मचारी होने पर आशंका व्यक्त की है, किंतु जिस प्रकार एक लाख गायों या एक सौ जनपदों का हनुमान ने प्रतीक स्वीकार किया, उसी प्रकार इन सोलह कन्याओं की बात को समझना चाहिए। इन गायों या जनपदों को हनुमान ने कहीं स्वीकारा हो या उनका भोग किया हो—ऐसी कोई बात कहीं नहीं मिलती। यदि इस बात की उपेक्षा हो सकती हो तो उन सोलह कन्याओं की घटना को स्मरण में रखकर उसके अनर्थकारी निष्कर्ष निकालने का कोई औचित्य नहीं। कुमारी कन्याएँ स्वागत के लिए अग्रस्थान पर रखी अन्य किसी भेंट-सामग्री की भाँति रखी जाने का उल्लेख उस काल में हुआ है। विष्टि प्रसंग में हस्तिनापुर आ रहे कृष्ण के सत्कार के लिए हाथी, स्वर्णजटित रथ और अन्य दासों के उपरांत सुवर्ण जैसी कांतिवाली परम सुंदरी स्त्रियों को भी भेट-स्वरूप देने का आदेश धृतराष्ट्र ने दिया था। इसी प्रकार, यहाँ भी सुंदर स्त्री एक उपहार और सम्मान के प्रतीक के रूप में ही प्रायोजित होती हों, ऐसी उस युग में प्रथा रही हो, ऐसा संभव है।

राम के राज्यारोहण के प्रसंग पर विभिन्न सरिताओं तथा महासागरों का जो जल एकत्रित किया गया, यह महत्त्वपूर्ण काम भी हनुमान ने ही संपन्न किया। इस तरह राम के राज्याभिषेक का अंतिम कार्य भी हनुमान द्वारा ही निष्पन्न हुआ। यह घटना बहुत ही अर्थसूचक है। राज्याभिषेक के बाद सभी वानरों और विभीषण को विदा करते

समय राम ने शुभेच्छा के प्रतीक-स्वरूप उन्हें कोई-न-कोई भेंट दी है और धर्मवाक्य भी कहे हैं। उस समय हनुमान राम से एक ही वर माँगते हैं—''हे रघुनंदन! मेरा स्नेह और मेरी भक्ति आपके प्रति सदैव अविचल रहे, यही वरदान मुझे दें!''

इस प्रसंग में महाभारत की एक कथा विद्वानों के स्मरण-पटल पर आए, ऐसा स्वाभाविक है। खांडव वन के दहन के प्रसंग में कृष्ण और अर्जुन के हाथों परास्त हुए इंद्र ने प्रसन्न होकर अर्जुन को अमोघ अस्त्र दिए और कृष्ण को कोई वरदान माँगने के लिए कहा। उस समय कृष्ण ने जो कुछ कहा, उसका उल्लेख आदिपर्व के अंतिम सर्ग के तेरहवें श्लोक में किया गया है। यहाँ कृष्ण ने कहा है कि मुझे अन्य कुछ भी नहीं चाहिए, केवल 'प्रीति पार्थेन शाश्वतीम' अर्थात् मुझे सतत पार्थ का प्रेम मिलता रहे। यहाँ पार्थ (अर्थात् पृथा का पुत्र) शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्जुन के लिए अन्य किसी भी शब्द का प्रयोग न करके 'पार्थ' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका एक विशेष हेतु समझ में आता है। पृथा कुंती का नाम है, किंतु पृथा का अर्थ पृथ्वी भी होता है, इसलिए पार्थ का अर्थ पृथ्वी का पुत्र अर्थात् समग्र मानवजाति—ऐसा भी कहा जा सकता है।

कृष्ण लोकोत्तर परम पुरुष हैं और यह लोकोत्तर परम पुरुष पृथ्वीवासियों का प्रेम माँगता है। दूसरी ओर रामायण के हनुमान पृथ्वीवासी होते हुए भी लोकोत्तर हैं और ऐसे पृथ्वीवासी लोकोत्तर हनुमान राम जैसे परम पुरुष का प्रेम ही माँगते हैं। इस तरह, कृष्ण और हनुमान दोनों ऐसे परम व्यक्तित्व हैं, जिन्होंने वर-प्राप्ति के क्षण में प्रेम अथवा समर्पण के अतिरिक्त अन्य कोई अपेक्षा की ही नहीं।

एक रसप्रद बात यहाँ ध्यान में रखनी आवश्यक है। राम ने अपने जीवनकाल में माता-पिता, पत्नी, भाई, मित्र इन सभी से प्रेम किया है, किंतु अपवाद-स्वरूप कौशल्या को छोड़ दें तो राम ने समय-समय पर उन सभी के प्रति आशंकाएँ भी प्रकट की हैं और रुष्ट होकर उन पर आक्षेप भी किए हैं। कौशल्या संपूर्ण रामकथा में अधिक नहीं दिखाई देतीं, इसलिए उनको यदि लक्ष्य में न लें तो हनुमान ही एकमात्र ऐसे पात्र हैं, जिनके किसी भी कार्य के विषय में राम ने कभी रंजमात्र (तनिष्क) भी आशंका नहीं की, उन पर कभी कोई आक्षेप नहीं किया। हनुमान की यह सिद्धि रामायण के अन्य सभी पात्रों से उन्हें अलग करके राम के सर्वाधिक निकट रख देती है।

इस लेख के आरंभ में, इस देश की जनता द्वारा अपने असंख्य देवी-देवताओं में से श्रीकृष्ण और हनुमान को सर्वाधिक प्रस्थापित किए जाने की जो बात कही गई है, उसका कारण हनुमान और श्रीकृष्ण की विलक्षण माँगों में निहित है। सिद्धि के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने के बाद भी जिन्हें प्रेम और भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए, उनके लिए महाकाल भी एक क्षण के लिए थम जाए और युग-युगांतर तक पैदा होनेवाली तमाम पीढ़ियाँ नत-मस्तक होकर उनकी वंदना करें तो इसमें आश्चर्य क्या!

❑

— ३ —
राजा दशरथ

जब मिथिलानगरी में राम और सीता का विवाह संपन्न हुआ, तब महर्षि वसिष्ठ ने राजा जनक को अयोध्या के इक्ष्वाकु वंश का परिचय दिया। इस परिचय के अनुसार अयोध्या के प्रथम राजा इक्ष्वाकु हैं और इक्ष्वाकु प्रजापति ब्रह्मा की पाँचवीं पीढ़ी के उत्तराधिकारी हैं। राजा दशरथ इक्ष्वाकु की तैंतीसवीं पीढ़ी में हुए हैं और इस पीढ़ी में राजा मांधाता, सगर, भगीरथ, अंबरीष, नहुष और ययाति जैसे पुराण और इतिहास में प्रसिद्ध राजा हुए हैं। काल भी उनकी कीर्ति के कँगूरे गिरा नहीं सका है।

इक्ष्वाकुवंशियों की राजधानी अयोध्या बारह योजन लंबी और तीन योजन चौड़ी थी, ऐसा बालकांड में उल्लेख है। रोचक बात यह है कि श्रीमद् भागवत में द्वारिका नगरी की लंबाई-चौड़ाई भी उतनी ही कही गई है। अयोध्या की पहचान बारंबार कौशल देश की राजधानी के रूप में करवाई जाती है। वाल्मीकि रामायण के बालकांड में इस नगरी का जैसा वर्णन किया है, उसके अनुसार रोज प्रात: अयोध्या के राजमार्गों पर पुष्प बिछाए जाते थे एवं जल का छिड़काव किया जाता था। नगर में चारों ओर सैकड़ों तोप (शतघ्नी) रखी गई थीं और केवल स्त्रियों द्वारा चलाई जानेवाली नृत्य-नाटक की अनेक मंडलियाँ थीं। नगर में असंख्य लोग विदेश से आकर बस गए थे तथा नगरी घनी आबादी से भरी हुई थी। तमिल भाषा की 'कंबन रामायण' में इस कौशल देश का परिचय अत्यंत काव्यात्मक रीति से दिया गया है। कंबन ने लिखा है, यहाँ दान का महत्त्व नहीं है, क्योंकि कोई याचक ही नहीं है। वीरता का महत्त्व नहीं है, क्योंकि युद्ध ही नहीं होते। सत्य का महत्त्व नहीं है, क्योंकि कोई असत्यवादन नहीं करता। पंडित का महत्त्व नहीं, क्योंकि सभी ज्ञानी हैं।

ऐसे कौशल प्रदेश के बारे में एक अन्य प्रश्न पर भी सोच लेने की जरूरत है। राजा दशरथ की प्रथम पत्नी कौशल्या कौशल देश के राजा भानुमान की पुत्री थी—ऐसा उल्लेख अन्यत्र प्राप्त होता है। मिथिला नरेश की पुत्री जिस प्रकार मैथिली कही जाती है, कैकेय नरेश की पुत्री कैकेयी कही जाती है, उसी प्रकार कौशल नरेश की पुत्री के रूप में कौशल्या की पहचान कराई जाती है। अब यदि इक्ष्वाकुवंशियों की राजधानी यही कौशल प्रदेश है तो दुविधा उत्पन्न हो सकती है। कौशल्या कौशल नरेश की पुत्री और दशरथ कौशल प्रदेश का राजा—एक ही प्रदेश का नाम दो तरह से प्रयुक्त किया गया है। एक स्थान पर कौशल्य के पिता भानुमान की पहचान ईशान कौशल अथवा दक्षिण कौशल प्रदेश के राजा के रूप में कराकर, जिसकी राजधानी अयोध्या है, उस मूल कौशल से उसे अलग करने की कोशिश अवश्य की गई है।

मनुष्य के जीवन में श्रेय और प्रेय के बीच निरंतर संघर्ष चलता रहता है। ऐसा कोई संघर्ष जीवन में उत्पन्न ही न हो और मनुष्य निरंतर एकपक्षीय रीति से केवल श्रेय का अनुसरण करे, या तो प्रेय का, ऐसा कभी संभव नहीं होता। जिसके जीवन में ऐसा घटित होता है वह या तो देव होता है अथवा पशु। राजा दशरथ रामायण का सबसे पहला पात्र है और रामायण के सभी पात्र नख-शिख मानव हैं। दशरथ इन सभी पात्रों में श्रेय और प्रेय के बीच होनेवाले संघर्ष का उत्तम उदाहरण हैं। ऐसे संघर्ष के क्षण में अधिकांश मनुष्य श्रेय के साथ समाधान करके प्रेय का अनुसरण करते हैं। परंतु लोकोत्तर पुरुष प्रेय का त्याग करके श्रेय को स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनके ऐसे स्वीकार को आनेवाली पीढ़ी एक दृष्टांत के रूप में स्वीकार करती हैं। गीता में श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन से कही हुई एक बात का यहाँ स्मरण कर लेना चाहिए। श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्देवेतरो जन:' अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण का अन्य पुरुष अनुसरण करते हैं। दशरथ के जीवन का अवलोकन करते हुए इस बात को ध्यान में रखने

की आवश्यकता है।

राजा दशरथ की कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी—ये तीन रानियाँ थीं। इसका उल्लेख कथाकार और कुछ अनुवर्ती रामभक्त रामायणकार सैकड़ों वर्षों से निरंतर करते रहे हैं। यह बात अर्द्धसत्य है। राजा की ये तीन रानियाँ तो थी हीं, परंतु केवल तीन ही थीं, ऐसा कहना वाल्मीकि के साथ अन्याय करना होगा; क्योंकि महर्षि वाल्मीकि ने उनकी रामायण में एक से अधिक बार, तनिक भी आशंका न हो, इस प्रकार स्पष्ट रूप से कहा है कि दशरथ की अनेक स्त्रियाँ थीं और अयोध्याकांड सर्ग ३४/१३ तथा सर्ग ३९/३६ के अनुसार तो इन रानियों की संख्या तीन सौ पचास अर्थात् साढ़े तीन सौ है। इस हकीकत का जब और जहाँ उल्लेख हुआ है, तब और वहाँ, जिन्होंने मूल रामकथा का अध्ययन या आस्वाद नहीं किया है, परंतु केवल कथाकारों के दिखाए मार्ग पर ही चले हैं, वे नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। हकीकत यह है कि इससे राजा दशरथ के व्यक्तित्व या चरित्र-चित्रण को कोई हानि नहीं होती, क्योंकि यही तत्कालीन समय की व्यवस्था होगी, ऐसा प्रतीत होता है। राम इनमें आदर्श रूप में अपवाद हैं, क्योंकि महाभारत के श्रीकृष्ण ही नहीं, धृतराष्ट्र या युधिष्ठिर जैसे भी बहुपत्नीगामी ही हैं।

रामायण के आरंभ के साथ ही जो राजा दशरथ दृष्टिगोचर होते हैं, उनकी आयु उस समय साठ हजार वर्ष की थी —ऐसा लिखा गया है। स्वयं राजा दशरथ भी कहते हैं कि इतनी अवस्था के उपरांत भी उन्हें संतान-प्राप्ति नहीं हुई है। संतान- प्राप्ति के लिए राजा अपने कुलगुरु वसिष्ठ की सहमति प्राप्त करके अश्वमेध यज्ञ करते हैं। सामान्यत: ऐसे यज्ञ का सम्राट् की सत्ता या चक्रवर्ती होने के प्रतीक-रूप में आयोजन होता है, परंतु अश्वमेध की सिद्धियों में एक सिद्धि पुत्रेष्टि भी मानी गई है। इस यज्ञ की समाप्ति पर प्रसन्न होकर यज्ञपुरुष ने पायस अर्थात् खीर का एक कुंभ राजा को दिया और यह प्रसाद अपनी पुत्रेच्छुक पत्नियों में योग्य रीति से बाँट देने के लिए कहा। राजा ने इस प्रसाद का आधा हिस्सा वरिष्ठ रानी कौशल्या को दिया और शेष बचे आधे हिस्से में से आधा हिस्सा सुमित्रा को दिया। उसके बाद शेष हिस्सा रहा, वह कनिष्ठ रानी कैकेयी को दिया और तत्पश्चात् जो शेष हिस्सा बचा वह 'सोचकर' पुन: सुमित्रा को दे दिया। यहाँ राजा के लिए 'सोचकर' ऐसा शब्द प्रयोग किया गया है। प्रसाद के ऐसे गणितीय विभाजन के लिए क्या विचार प्रक्रिया रही होगी, इसकी कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है।

यज्ञ की समाप्ति पर राजा दशरथ को पुत्र-प्राप्ति हुई, परंतु इस पुत्र-प्राप्ति से पूर्व ही राजा शांता नामक एक पुत्री के पिता बने थे—ऐसी बात कुछ अभ्यासी कभी-कभार रामायण के नाम से अवश्य करते हैं। इसका मूल स्थान राजा दशरथ की अंगनदेश के राजा रोमपाद के साथ की मैत्री में है, ऐसा प्रतीत होता है। शांता रोमपाद की पुत्री है और शांता के पति महर्षि ऋष्यशृंग को पुत्रेष्टि-यज्ञ के प्रमुख ऋत्विज के रूप में आमंत्रित करने के लिए राजा दशरथ स्वयं गए थे। रोमपाद के साथ उनकी घनिष्ठ मैत्री है और इस मैत्री के कारण शांता उनके लिए पुत्रीवत् है। राजा ने रोमपाद को आमंत्रित करते हुए स्पष्ट रूप से कहा है—''हे राजा! आप, आपकी पुत्री शांता तथा उसके पति मेरे यज्ञ में पधारिए।'' (बालकांड ११/१९) यहाँ निर्विवाद है कि शांता दशरथ की पुत्री नहीं, अपितु दशरथ के मित्र रोमपाद की पुत्री है।

पुत्र-प्राप्ति के बाद राजा के जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रसंग विश्वामित्र का आगमन है। विश्वामित्र अपने यज्ञ की रक्षा के लिए राजा दशरथ के पास उनके ज्येष्ठ पुत्र राम को माँगने आए हैं। दशरथ के पात्र की एक ध्यानाकर्षित करनेवाली विशेषता यह है कि वे अपने मृदु और सौजन्यशील स्वभाव के कारण किसी भी प्रकार का कोई भी संदर्भ प्राप्त किए बिना ही वचनबद्ध हो जाते हैं। विश्वामित्र किसलिए आए हैं, इसकी जानकारी प्राप्त करने से पूर्व ही कुलगुरु वसिष्ठ की उपस्थिति में वे वचनबद्ध हो जाते हैं कि विश्वामित्र जो भी चाहेंगे, उसे वे अवश्य देंगे। इसमें राजा का ऋजु स्वभाव और निष्पाप प्रकृति तो प्रकट होती ही है, परंतु आधुनिक प्रतिष्ठा की

दृष्टि से देखें तो एक शासक के रूप में उनका भोलापन ही जाहिर हुआ है। विश्वामित्र ने जब राम की माँग की और वह भी रावण-प्रेरित मारीच इत्यादि राक्षसों के संहार के लिए, तब राजा भयभीत हो जाते हैं। रावण के नाममात्र से दशरथ काँप उठते हैं और कहते हैं कि मैं भी रावण का प्रतिकार नहीं कर सकता।

यहाँ पहली बार राजा के चित्त में चल रहे श्रेय और प्रेय के संघर्ष का प्रकटीकरण हुआ है। वे स्वयं वचनबद्ध हैं और तुलसीदास ने जिसे 'रघुकुल रीति सदा चली आई, प्राण जाय अरु वचन न जाई' कहा है, उससे दशरथ पूर्ण परिचित हैं, परंतु जिंदगी की उत्तरावस्था में प्राप्त प्रिय पुत्र को इस तरह विनाश के कगार पर रखना, उनका जी नहीं चाहता।

श्रेय और प्रेय के संघर्ष में जहाँ सामान्य मानव प्रेय की ओर झुक जाता है, वहाँ राजा, प्राथमिक मानव सहज मर्यादा को स्वीकार करने के बाद तुरंत ही जाग्रत् हो जाते हैं और पुत्र राम को विश्वामित्र को सौंप देते हैं। विश्वामित्र ने कहीं भी लक्ष्मण की माँग नहीं की है, परंतु लक्ष्मण राम की छाया जैसे ही हैं, अत: बिना किसी विवाद के राजा लक्ष्मण को भी राम के साथ विश्वामित्र को सौंप देते हैं।

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है। विश्वामित्र यज्ञ के लिए दीक्षित हो चुके हैं। राक्षसों का संहार करने के लिए वे असमर्थ नहीं हैं, फिर भी वे अपने ही यज्ञ की रक्षा नहीं करते और राम के द्वारा इस कार्य को सिद्ध करते हैं। इसका कारण बताते हुए यह कहा गया है कि यज्ञ में दीक्षित व्यक्ति को क्रोध नहीं करना चाहिए। यज्ञ में विघ्न डालनेवाले राक्षसों का संहार क्रोध किए बिना नहीं हो सकता। यज्ञ के अंतिम दस दिन शेष हैं, तब विश्वामित्र अयोध्या आए हैं और अयोध्या से यज्ञस्थान पर पहुँचने में उन्हें चार दिन लगे—ऐसी सफाई वाल्मीकि ने दी है। अब यज्ञ के केवल छह दिन ही शेष हैं। जिस क्रोध से अलिप्त रहने के लिए विश्वामित्र ने दशरथ के पास राम की माँग की है, उनकी इस माँग को जब राजा ने अस्वीकार किया, तब उन्हें क्रोध व्याप्त गया। इस तरह विश्वामित्र ने क्रोध तो किया ही है, इसकी टिप्पणी करनी ही चाहिए।

विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा करने के बाद मिथिला नगरी में राम ने धनुर्भंग किया और इस तरह सीता को प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त किया। यह समाचार राजा जनक ने अपना दूत भेजकर राजा दशरथ तक पहुँचाया। वाल्मीकि के कथनानुसार, राम विश्वामित्र के साथ अयोध्या से निकले, विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा की। मिथिला आए एवं धनुर्भंग किया और मिथिला के दूत ने अयोध्या पहुँचकर राम-सीता के रिश्ते की बधाई दी।

यह समयावधि पंद्रह दिन से अधिक नहीं हो सकती। विश्वामित्र ने अयोध्या में दशरथ से कहा है कि मेरे यज्ञ के दस दिन शेष हैं। इसके बाद अयोध्या से यज्ञस्थान पर पहुँचने की यात्रा संपन्न हुई, तब बीच में चार रात्रि व्यतीत हो चुकी हैं और उसके बाद छठे दिन राम ने यज्ञ का विध्वंस करने आए हुए राक्षसों का संहार किया, ऐसा स्पष्ट उल्लेख बालकांड में (३०/५-७) प्राप्त होता है। आज यज्ञ संपन्न हुआ और अगले ही दिन विश्वामित्र अपने शिष्य राम-लक्ष्मण के साथ मिथिला जाने के लिए निकल पड़े हैं। बीच में उन्होंने प्रथम रात्रि शोणभद्र नदी-तट पर व्यतीत की है। दूसरी रात्रि गंगा-तट पर व्यतीत की तथा तीसरी रात्रि विशालानगरी के राजा सुमति के साथ बिताकर चौथे दिन वे मिथिला पहुँचे हैं। एक रात्रि मिथिला में व्यतीत करने के बाद दूसरे दिन राम ने धनुर्भंग किया और धनुर्भंग के समाचार लेकर अयोध्या पहुँचनेवाले दूत मार्ग में तीन रात के लिए रुके—ऐसी स्पष्टता भी है (बालकांड ६८/१)। इस प्रकार यह संपूर्ण अभियान पंद्रह दिन से अधिक का नहीं होगा। राजा दशरथ प्रसन्न मन से पुत्र की बारात लेकर मिथिला पहुँचे, तब उन्होंने भी मार्ग में चार दिन का समय व्यतीत किया है (बालकांड : ६९/७)।

दशरथ के जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना पुत्रों के विवाह के बाद तुरंत ही अंकित हुई है। अभी तो वे मिथिला में ही थे कि भरत के मामा केकय राजकुमार युधाजित अपनी बहन तथा भानजे के समाचार सुनकर

अचानक आ पहुँचे हैं। विवाह के बाद तुरंत ही मामा युधाजित भानजे भरत को लेकर चले गए हैं। ध्यानाकर्षित बात यह है कि भरत की पत्नी उनके साथ नहीं गई है। अब अचानक राजा दशरथ अपनी वृद्धावस्था के विषय में सोचने लगते हैं और इसके साथ ही उन्हें लगता है कि राम अब स्वतंत्र रूप से युवराज पद पर स्थापित हो जाएँ, क्योंकि वे राज्य सँभालने के लिए सक्षम हैं।

राम का राज्याभिषेक करने से पूर्व दशरथ ने मंत्रियों तथा प्रजा के प्रतिनिधियों के साथ मंत्रणा की है तथा उनकी सलाह प्राप्त करने के बाद ही निर्णय लिया है। इस घटना से यह संकेत मिलता है कि प्राचीन आर्यावर्त्त में राजाशाही निरंकुश नहीं थी, परंतु एक प्रकार का प्रजाकीय शासन भी विद्यमान था। अपने उत्तराधिकारी के रूप में प्रजा राम को स्वीकार करे, इसलिए राजा ने प्रजा परिषद् से एक सवाल पूछा है : 'मैं धर्मपूर्वक शासन चलाता हूँ, फिर भी आप सब श्रीराम को राज्य सौंपने के मेरे इस प्रस्ताव का इतने उत्साह से क्यों सत्कार करते हैं?' राजा का यह सवाल अत्यंत मनोवैज्ञानिक है। प्रजा और मंत्री केवल मेरे प्रभुत्व के कारण राम को स्वीकार नहीं करते, परंतु उनके मन में राम के विषय में एक निश्चित प्रतिभा का निर्माण हुआ है या नहीं, यह बात राजा सार्वजनिक रूप से प्रकट करना चाहते हैं।

इसके बाद राजा ने राज्याभिषेक की तैयारी आरंभ कर दी और इसके लिए भिन्न-भिन्न नगरों में निवास करनेवाले मुख्य पुरुषों तथा अन्य जनपद के राजाओं को आमंत्रित करके अयोध्या में बुला लिया। इन सबका योग्य सत्कार करके उनके निवास के लिए निवास-स्थान भी प्रदान किए (अयोध्याकांड : १/४६-४७); परंतु उसके बाद के अगले श्लोक में यानी अयोध्याकांड १/४८ में ऐसा कहा गया है कि उतावलेपन के कारण दशरथ ने केकय नरेश तथा मिथिलापति जनक को निमंत्रित नहीं किया और सोच लिया कि ये शुभ समाचार उन्हें बाद में प्राप्त हो जाएँगे। यह बात इतनी सीधी नहीं है। इतना ही नहीं, उसके बाद जब राज्याभिषेक के समाचार प्राप्त करके राम दशरथ के समक्ष उपस्थित होते हैं तब राजा ने यह कहा है कि ''भरत धर्मात्मा और सत्पुरुष है, परंतु ऐसे सज्जन का मन भी किसी कारणवश कब बदल जाए, यह कहा नहीं जा सकता, अत: भरत की अनुपस्थिति में ही तुम्हारा अभिषेक हो जाए, यह अधिक उचित है।''

बहुत कम रामायण-प्रेमी इस घटना से परिचित हैं। ऐसा लग रहा है कि दशरथ के मन में भरत के प्रति जो आशंका है, उसका मूल स्वयं राजा ने कैकेयी के साथ जो विवाह किया था, उसके एक प्रसंग में होना चाहिए। यह बात राम ने भरत से तब कही है, जब वनवास के दौरान चित्रकूट में भरत राम से मिले थे (अयोध्याकांड: १०७/३)। कैकेयी के साथ दशरथ के विवाह के समय यह शर्त रखी गई थी कि राजा की मृत्यु के बाद कैकेयी के पुत्र का ही राज्यारोहण किया जाए। दशरथ ने इस शर्त को स्वीकार किया था। फिर भी इक्ष्वाकु कुल में ज्येष्ठ पुत्र के राज्याभिषेक की परंपरा रही है। इसमें एकाध अपवाद अवश्य है, परंतु ऐसा अपवाद ज्येष्ठ पुत्र की अयोग्यता के कारण ही हुआ था। राम तो सर्वगुणसंपन्न ज्येष्ठ पुत्र थे, अत: फिर एक बार दशरथ के लिए श्रेय और प्रेय के बीच संघर्ष उपस्थित होता है। राम का राज्याभिषेक कुल-परंपरा है, अत: यह श्रेय भी है।

प्रत्यक्ष रूप से भरत का राज्याभिषेक प्रेय नहीं है, परंतु यहाँ राजा वचनबद्ध है। अत: प्रिय पत्नी को दिए हुए वचन का पालन करने का लालच भी है। इसका एक ही हल यह हो सकता है कि इस विषय में अधिक चर्चा या विचारणा किए बिना भरत की अनुपस्थिति में राम का राज्याभिषेक संपन्न कर दिया जाए। यहाँ भी राज्याभिषेक जैसे महत्त्वपूर्ण प्रसंग की जानकारी से समग्र रनिवास को अनजान ही रखा गया है, ऐसा लगता है।

जब कुपित कैकेयी ने राजा के समक्ष अपना कोप प्रकट किया तब भी राजा मानो कैकेयी के साथ विवाह के पूर्व की शर्त को भूल गए हों, वैसे सरलता से कह देते हैं कि 'तुम जो भी माँगोगी, मैं तुम्हें दे दूँगा' और इस तरह

अकारण ही वचनबद्ध हो जाते हैं। एक ओर उनके मन में भरत के बारे में आशंका है और दूसरी ओर कैकेयी के पिता को दिया गया वचन याद ही न हो, वैसे वे कैकेयी के साथ वचनबद्ध हो गए। केवल वाल्मीकि ही इस विसंवाद का उत्तर दे सकते हैं। किसी ने तो मन में ऐसा भी जमाने की कोशिश की कि राजा काम-लोलुप थे और कैकेयी जैसी सुंदर तथा जवान पत्नी के समक्ष वैचारिक रूप से शिथिल हो जाते थे, जिसके फलस्वरूप इस प्रकार के वचन में बँध गए हों। जो भी हो, परंतु इससे इतना तो प्रतीत होता ही है कि राजा कपटी या कूटनीतिज्ञ नहीं हैं, बिलकुल सरल हैं।

कैकेयी द्वारा माँगे हुए दो वचनों में से भरत के राज्यारोहण के वचन को स्वीकार करने के लिए तो दशरथ तत्पर हुए हैं, परंतु राम के अरण्यवास की बात उनके लिए असह्य है। इस कल्पनामात्र से राजा को जो आघात लगा है, वह कैकेयी के समक्ष उन्होंने पत्नी के चरण-स्पर्श से लेकर जो विविध प्रार्थना की हैं, उसमें व्यक्त होता है। वृद्ध राजा की यह चिरौरी यद्यपि उनके गौरव के लिए शोभास्पद नहीं है, परंतु ऐसे समय में भी उनका व्यक्तित्व कितना सौम्य और ऋजु बना रहता है, उसके दर्शन अवश्य हो सकते हैं। जिसके व्यक्तित्व में ऐसे गुण होते हैं, वह आघात की वेला में भी रौद्र या कराल नहीं हो सकता।

एक अन्य उल्लेखनीय एवं रोचक बात यह भी है कि राम को वनवास का आदेश दशरथ ने नहीं दिया है, केवल कैकेयी ने ही राम से कहा है कि राजा की ऐसी इच्छा है। राम ने माता के इस वचन को पिता की आज्ञा के रूप में स्वीकार कर लिया था। राजा पुत्र को ऐसे शब्द कभी नहीं कह सके। राम के अयोध्या-त्याग तक राजा ने बारंबार विलाप किया, कैकेयी का तिरस्कार किया, अनेक बार दु:ख के आवेश में मूर्च्छित हुए और अंत में हताशापूर्वक पुत्र को सूचित किया कि मैं चाहे वचनबद्ध हूँ, परंतु तुम्हें मेरी आज्ञा का पालन करने की आवश्यकता नहीं है। मुझे कैद करके अयोध्या के राजा के रूप में तुम सिंहासन पर आरूढ़ हो जाओ (अयोध्याकांड : ३४/२६)।

पिता की इस प्रेमासक्त अवस्था को देखकर राम ने कहा है, ''हे राजा! जिस प्रकार मेरा धर्म आपकी आज्ञा का पालन करना है, उसी प्रकार आपका धर्म अपने दिए हुए वचन को सार्थक करना है।'' राम के वनगमन के पश्चात् छठी रात्रि को राजा ने प्राण-त्याग किया है। ये छह दिन उन्होंने प्रिय पत्नी कैकेयी के आवास में नहीं, परंतु ज्येष्ठ रानी कौशल्या के आवास में बिताए हैं। इस दौरान राजा ने 'पुत्र के विरह में वे प्राण त्याग देंगे', ऐसा जो अभिशाप उन्हें अतीत में मिला था, उसकी कथा कौशल्या को कह सुनाई है।

कथाकार हमें राजा की इस बात को किसी श्रवणकुमार नामक ब्रह्मपुत्र के साथ जोड़कर सुनाते रहे हैं। श्रवण अंधे माता-पिता को यात्रा कराने के लिए काँवर में बैठाकर ले जा रहा था, तब मार्ग में रात्रि के समय राजा दशरथ ने उसे जंगली पशु समझकर उसका शिकार किया—यह बात बहुत प्रसिद्ध है। इस अचानक और अनजाने में हुई हत्या के फलस्वरूप श्रवण के अंधे पिता ने राजा को शाप दिया, ऐसी लोककथा है। यह अर्द्धसत्य है। वाल्मीकि, पुत्र-शोक में व्याकुल दशरथ के पास जो कथा कौशल्या को सुनाते हैं, उसमें न तो श्रवणकुमार का नाम है, न ऐसी काँवरवाली यात्रा की कथा है। वैश्य पिता और शूद्र माता के गर्भ से उत्पन्न पुत्र नदी-तट पर आश्रम-जीवन व्यतीत कर रहा था और वर्षा ऋतु के उषाकाल में हलके अँधेरे में इस मुनिकुमार पर राजा ने गलती से शस्त्र प्रहार किया और उसकी हत्या हो गई। यह ब्राह्मण परिवार से नहीं है। सामान्यतया शाप देने का ऐसा अधिकार ब्राह्मणों के पास ही होता है। यह वैश्य पिता और शूद्र माता की एकमात्र संतान थी। ब्राह्मणेतर जाति—विशेष रूप से शूद्रों को तप का अधिकार नहीं है, ऐसे तर्क के साथ उत्तरकांड में राजा राम ने शंबूक नामक शूद्र को तपस्या करने के अपराध के लिए मृत्युदंड दिया है।

यहाँ अयोध्याकांड में वैश्य-शूद्र का युगल तपस्या कर रहा था और वह राजा दशरथ को शापित भी करता है।

अपने अपराध के प्रायश्चित्त के लिए स्वयं राजकुमार दशरथ ने यह शाप माँगकर लिया है।

राजा ने शाप की यह कथा छठी रात्रि को ही कह सुनाई है और इसके बाद मूर्च्छित अवस्था में उन्होंने प्राण त्याग दिए हैं। उनके प्राण-त्याग की जानकारी, उनके निकट निद्राधीन उनकी पत्नियाँ कौशल्या और सुमित्रा को भी प्रात:काल बंदीजनों के स्तुतिगान के समय ही होती है। राजा की मृत्यु के साथ ही अयोध्या का सिंहासन रिक्त हो गया; क्योंकि कोई भी राजकुमार वहाँ उपस्थित नहीं था। ऐसी परिस्थिति में राज्य के मंत्री, प्रजाजन तथा मार्कंडेय इत्यादि मुनियों ने कुलगुरु वसिष्ठ से जो विनती की है, वह ध्यान देने योग्य है।

उन्होंने कहा ''राज्य को राजा-विहीन नहीं रखा जा सकता, अत: अब वसिष्ठ को ही निर्णय लेकर या तो कोई इक्ष्वाकुवंशी राजकुमार को अथवा अन्य किसी योग्य पुरुष को राजा के पद पर नियुक्त करना चाहिए।''

इस प्रकार यह संकेत प्राप्त होता है कि उस समय कुलगुरु का स्थान विशिष्ट और सर्वोच्च था। वसिष्ठ ने केकय देश में दूत भेजकर भरत को बुलावा भेजा, परंतु कुशाग्र बुद्धि से ऐसी सूचना भी दी कि भरत को राम-वनवास या दशरथ की मृत्यु के समाचार न दिए जाएँ। अयोध्या से निकले हुए दूत उसी दिन रात को केकय देश पहुँच गए हैं। (किसी भी विलक्षण पाठक के मन में तुरंत ही एक सवाल उठ सकता है कि अयोध्या और केकय की दूरी यदि केवल थोड़े घंटों की यात्रा जितनी ही है तो राजा ने राम के राज्याभिषेक-प्रसंग में जो उतावली की है, उसमें उस आशंका का समर्थन होता है। इतना ही नहीं, राम-वनवास के बाद छठे दिन राजा ने प्राण त्याग दिए, फिर भी केवल थोड़े घंटों की दूरी पर स्थित केकय देश में इन छह दिनों तक ये समाचार क्यों नहीं पहुँचे होंगे?)

मामा के घर से अयोध्या वापस लौटते हुए भरत मार्ग में सात रात्रि व्यतीत करने के पश्चात् आठवें दिन अयोध्या पहुँचते हैं (अयोध्याकांड : ७१/१८)। जिस दूरी को अयोध्या के दूत एक ही दिन में लाँघ सके, वह दूरी भरत तो उससे भी कम समय में लाँघ सकता था, क्योंकि उन्हें तो तुरंत आने के लिए बुलावा प्राप्त हुआ था। ऐसा लगता है कि दूतों ने जिस मार्ग पर यात्रा की है, वहाँ मार्ग में विपाशा नदी (वर्तमान व्यास नदी) का उल्लेख है। उनकी यात्रा अयोध्या से पश्चिम दिशा की ओर हुई। भरत की वापसी-यात्रा केकय देश से पूर्व दिशा की ओर हुई है; उसमें विपाशा नदी का उल्लेख नहीं है, लेकिन शतद्रु (वर्तमान सतलुज) नदी का उल्लेख है। इसका अर्थ यह हुआ कि केकय देश पंजाब में कहीं होना चाहिए और भरत ने, अयोध्या से आए हुए दूतों ने जिस मार्ग से यात्रा की है, उससे अलग और लंबा मार्ग लिया है। भरत ने ऐसा क्यों किया होगा—यह रहस्यमय समस्या है और जिस समस्या का सृजन स्वयं वाल्मीकि ने किया है, उसका उत्तर हम कैसे प्राप्त कर सकेंगे!

इस समयावधि में राजा दशरथ का शव तेल से भरे हुए एक बड़े लोहे के पात्र में सँभालकर रखा गया था। शव को इस प्रकार कुछ दिनों तक सँभालकर रखने की बात वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक—दोनों रीति से उस समय को हमारे सम्मुख सजीव करती है। इजिप्ट की संस्कृति में शव को पिरामिड में 'ममी' के रूप में सहेजकर रखने की जो बात है, वह समयावधि भी दशरथ की समयावधि को नियत करने में जोड़ दी जाए, तो ऐसा मानदंड बन सकता है।

राजा दशरथ के अंत्येष्टि-संस्कार किसने किए—इसके बारे में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। श्मशानगृह में भरत और शत्रुघ्न के साथ ऋषिवृंद, अंत:पुर की स्त्रियाँ, प्रजाजन और सेवक सभी उपस्थित थे। राजा ने अपनी मृत्यु से पूर्व ही कैकेयी का तिरस्कार करते हुए कहा था कि कैकेयी तथा भरत मेरी मृत्यु के पश्चात् जलांजलि भी न दें तथा दाह-संस्कार भी न करें। इसमें राजा की इच्छा से अधिक उनका रोष और तिरस्कार ही प्रकट होता है। फिर भी, कैकेयी के प्रति तिरस्कार के कारण उन्होंने भरत को भी अंत्येष्टि-संस्कार के अधिकार से वंचित कर दिया था। अंत्येष्टि-संस्कार यानी चिता पर स्थित राजा की देह के दाह-संस्कार किसने किए, इस विषय में वाल्मीकि ने भी खुलकर नहीं कहा है। राजा का शव चिता पर रखा गया, श्रुतिमंत्रों का पाठ किया गया, रानियों ने

उस देह की परिक्रमा की और फिर दाह-कर्म संपन्न हुआ, इतना ही वाल्मीकि ने लिखा है। यह बात भी उल्लेखनीय है।

राजा दशरथ प्रजावत्सल और इक्ष्वाकु-कुल-परंपरा के परम संरक्षक थे, यह तो निर्विवाद है। पिता के रूप में उनके पुत्र-प्रेम का, जहाँ तक राम का संबंध है, अनिर्वचनीय ही कहा जा सकता है। परंतु इस बात को भी स्वीकार करना चाहिए कि उनके ऐसे पुत्र-प्रेम का विस्तार अन्य पुत्रों तक हुआ हो, ऐसा कहीं दिखाई नहीं देता। पति के रूप में उनका व्यवहार कैकेयी और कौशल्या के प्रति अवश्य भिन्न है। वनवास के समय राम के समक्ष विलाप करते हुए कौशल्या ने 'पतिगृह में वह सुख प्राप्त नहीं कर सकी' ऐसा दिल का गुबार अवश्य प्रकट किया है। राजा का सबसे बड़ा लक्षण उनकी धर्मनिष्ठा है। उनका सीधा और सरल स्वभाव है, परंतु शासक के रूप में उनमें विलक्षणता का अभाव भी दृष्टिगोचर होता है। फिर भी, हमारे पौराणिक कथानकों में दशरथ एक तेजस्वी और सम्मानीय पात्र के रूप में स्थित हैं, ऐसी क्षमता तो उनमें है ही। अनुवर्ती रामायणों ने इस पात्र के विषय में अनेक गलतफहमियाँ उत्पन्न की हैं तथा निरे शब्दों को तोड़-मरोड़कर अर्थघटक करनेवाले बौद्धिकों ने भी कभी-कभार इस पात्र के साथ अन्याय किया है। इसके साथ यह भी स्वीकार करना चाहिए कि कथाकारों ने दशरथ के पात्र को भावकों तक योग्य परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत नहीं होने दिया है।

❑

—४—

भरत

कवियों और कलाकारों ने रामायण के सर्वाधिक उपेक्षित पात्र के रूप में बार-बार और लगभग सर्वानुमत से लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला को बताया है। उर्मिला उपेक्षिता नहीं—ऐसा कोई नहीं कहता, पर वैसे तो उर्मिला से भी अधिक भरत की पत्नी मांडवी को भी उपेक्षिता ही कहा जा सकता है। सच बात तो यह है कि रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि ने उर्मिला हो या मांडवी, उन्हें गौण पात्र ही माना है और रामायण के घटना-प्रवाह में ये पात्र विशेष प्रभावशाली भी नहीं हैं। सुमित्रा को भी ऐसा ही एक उपेक्षित पात्र कहा जा सकता है। पर इन पात्रों को उपेक्षित पात्र के रूप में तो अनुवर्ती ललित-साहित्य के सर्जकों ने कहा है। वाल्मीकि की दृष्टि से ये पात्र उपेक्षित नहीं हैं, बल्कि कथाप्रवाह में गौण स्थान पर होने से उनका जहाँ और जितना औचित्यपूर्ण विनियोग होना चाहिए, उतना ही किया है। यह सृजन-कर्म का संतुलित कार्य है। कोई भी सर्जक कथा के तमाम पात्रों को जन्म से लेकर मृत्यु तक विस्तारपूर्वक आलोकित नहीं कर सकता और कोई यदि ऐसा करना चाहे तो वह कृति कलाकृति नहीं बन सकती।

परंतु भरत के पात्र को इस भूमिका के परिप्रेक्ष्य में नहीं देखा जा सकता है। भरत रामायण के अत्यंत महत्त्वपूर्ण पात्र हैं। वाल्मीकि ने रामायण में जिन पात्रों का हमें परिचय कराया है, उनमें भरत संभवत: राम के बाद सर्वाधिक उल्लेखनीय व्यक्तित्व हैं। कुछ देर के लिए मान लें कि भरत ने माता कैकेयी द्वारा प्राप्त राज्य स्वीकार कर लिया होता तो संभवत: रामायण की रचना ही बदल गई होती। स्वयं कुलगुरु वसिष्ठ ने भरत को—अयोध्या के सिंहासन पर आरूढ़ होना उनका धर्म है—ऐसा कहा है। प्रजा, मंत्रीगण और अन्य सभी अब भरत राजा बनें, यही चाहते हैं। भरत ने गुरु की आज्ञा स्वीकार की होती तो रामायण का घटनाक्रम आज किसी की भी कल्पना के परे होता। वन में राम से मिलने के लिए गए भरत के विषय में निषादराज गुह ने भी कहा है कि बिना प्रयत्न के हाथ में आई राजलक्ष्मी का इस तरह त्याग करे, ऐसा कोई इस भूमंडल में अभी तक हुआ नहीं। राम का राजत्याग और वनवास दोनों पिता की आज्ञा से हुए हैं। लक्ष्मण ने अरण्यवास स्वेच्छा से स्वीकार किया है—यह सही है, पर भरत ने तो राजत्याग और वनवास दोनों स्वेच्छया स्वीकार किए हैं, यह बात ध्यान में रखनी चाहिए।

एक तरह से देखें तो भरत ने राम, लक्ष्मण या शत्रुघ्न—तीनों की अपेक्षा विशेष प्रमाण में कष्टों का स्वैच्छिक स्वीकार किया है। विवाह के बाद तुरंत ही मामा युधाजित के साथ वे ननिहाल गए तो पत्नी मांडवी को अपने साथ नहीं ले गए। इस प्रकार विवाह के बाद का तत्काल का समय पत्नी-विहीन रहा है। भरत के ननिहाल जाने और वहाँ से राजा दशरथ के मरण के बाद वापस आने—इन दोनों के बीच निश्चित रूप से कितने समय का अंतराल रहा होगा, यह विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता, परंतु यह अंतराल छोटा ही रहा होगा, यह असंदिग्ध है। ननिहाल से वापस लौटने के बाद भरत बड़े भाई राम को वापस अयोध्या ले आने के लिए चित्रकूट गए और वहाँ से खाली हाथ वापस आने के बाद पूरे चौदह वर्ष अयोध्या के बाहर नंदीग्राम में साधु-जीवन बिताया। इस प्रकार भरत का त्याग दूसरे किसी के भी त्याग से बढ़कर है, यह निर्विवाद है।

इसके बावजूद भरत के साथ रामायण के अन्य तमाम पात्रों—निकट के परिवारजनों तक ने भरपूर अन्याय किया है। वसिष्ठ को छोड़कर अन्य किसी पात्र ने—राम तक—भरत को पूरा न्याय नहीं दिया। भरत इन सभी की नजरों में सतत शंका से घिरे रहे हैं अथवा उन्हें गलत ढंग से समझा जाता रहा है। माता कैकेयी ने पुत्र भरत के व्यक्तित्व को और राम व कुल-परंपरा के प्रति भरत के प्रेम को ध्यान में लिये बिना ही भरत के लिए सिंहासन माँग लिया। माता

के रूप में कैकेयी पुत्र को समझने में निष्फल रहीं। इतना ही नहीं, जिस कुकर्म के लिए वे तनिक भी जिम्मेदार नहीं थे, उसमें वे भी सहभागी हैं, ऐसी छाप अन्यत्र खड़ी हो गई।

ननिहाल से वापस लौटे भरत के लिए पिता की मृत्यु और बड़े भाई का वनवास अत्यंत आघातजनक था, फिर भी जब भरत माता कौशल्या से मिले तो कौशल्या ने पहला ही प्रश्न ऐसा किया है—''बेटा, तुझे राज्य चाहिए था न? ले, अब यह राज्य तू निष्कंटक भोग। अब मुझे मेरे पुत्र राम के पास भेज दे।''

कौशल्या ने भी भरत के प्रति कठोर आशंका ही व्यक्त की है और इन सभी कुकर्मों में भरत भी सहभागी हैं, ऐसा ही व्यवहार किया है। जबकि भरत ने इसके बाद माता कौशल्या के गले लिपटकर, सिसक-सिसककर रोते हुए, यदि वे इस कुकर्म में किंचित् भी सहभागी हों तो किन-किन पापकृत्यों का फल उन्हें मिले, ऐसा रुदन कर सौगंध खाई है। यह पापकृत्यों की सूची, हमारे सामान्य जीवन में जो धर्मचिंतन व सांस्कृतिक परंपरा संरक्षित है, उनका संकेत कराती है। सामान्य जीवन में पाप किसे कहा जाए, ऐसा प्रश्न जब भी हो, उस समय इस सूची पर नजर फेर लेनी चाहिए।

इतना अधूरा हो इस तरह भरत के विषय में निषादराज गुह और ऋषि भरद्वाज भी ऐसी ही कुशंका करते हैं। राम को वापस बुला लाने के लिए चित्रकूट जा रहे भरत से मार्ग में निषादराज गुह ऐसा ही प्रश्न करता है—''आपका यह सैन्य मेरे मन में शंका उत्पन्न करता है। आप मुझे एक बात स्पष्ट कहें कि आपके मन में श्रीरामचंद्र के प्रति कोई दुर्भावना तो नहीं है न?'' भरत से ऐसा प्रश्न पूछनेवाले निषादराज गुह ने अपने साथियों से भी कहा है कि यह दुर्बुद्धि भरत हमारा नाश करके, पिता ने जिसे राज्य में से निकालकर बाहर भगा दिया है, उस राम का वध करना चाहता है। इस प्रकार, गुह भरत के प्रति आशंका ही रखता है। गुह की इस आशंका से व्यथित भरत ने गुह की आशंका का समाधान तो किया, परंतु आगे जाने पर महर्षि भरद्वाज ने भी भरत से ऐसा ही प्रश्न किया—''हे भरत! तुम्हें तो राज्य करना था, फिर यहाँ किसलिए आए हो? मुझे तुम पर विश्वास नहीं बैठता, क्योंकि तुम्हारी नीयत शुद्ध नहीं, ऐसा मुझे लगता है।'' इतना भी जैसे अधूरा हो, इस तरह मुनि भरद्वाज ने अधिक स्पष्टता से ऐसा प्रश्न किया है कि निरपराधी राम और लक्ष्मण का अनिष्ट करके तुम अपने राज्य को विघ्नरहित तो नहीं करना चाहते हो? इसके बाद भरत जब चित्रकूट में राम के निवास के सन्निकट पहुँचते हैं तो लक्ष्मण भी भरत के प्रति भारी रोष और तिरस्कार ही प्रकट करते हैं तथा भरत का वध कर देने तक उद्यत होते हैं।

भरत चित्रकूट में आकर राम से प्रार्थना करते हैं और फिर राम की पादुका को सिंहासन पर स्थापित करके वे चौदह वर्ष नंदीग्राम में बसे हैं—यह जानते हुए भी, लंका-विजय के बाद अयोध्या वापस आ रहे राम के मन में भी भरत के प्रति आशंका के कीड़े कुलबुलाते हैं। भरत के प्रति भरपूर प्रेम होने के बावजूद और कैकेयी द्वारा दिलाए गए राज्य को भरत स्वीकार नहीं करेंगे, यह बात पहले कहनेवाले राम ने भी अयोध्या वापस लौटने की पूर्व संध्या पर हनुमान से कहा है ''तुम हमारे आगमन की बात पहले से भरत को बताना और यह बात जानकर भरत के चेहरे पर क्या परिवर्तन होता है, यह जानने का प्रयत्न करना। भरत के चेहरे और वार्त्तालाप पर से उसके मनोभाव को समझकर मुझसे कहना, क्योंकि श्री और समृद्धि से भरपूर राज्य सरलता से मिल जाए तो किसका चित्त बदल नहीं जाता! तुम्हारे पास से इस बात की जानकारी हमें पहले से मिल जाए, ऐसा करो।''

इस प्रकार यहाँ भी भरत के उज्ज्वल पात्र के साथ, भले ही अनजाने में, राम ने भी अन्याय तो किया ही है। राम के चित्त में भरत के आचरण के विषय में ऐसी आशंका पैदा हो, ऐसा एक भी आचरण भरत ने नहीं किया। इसके बावजूद राम ने जो संदेह किया है, उसमें संभवत: मानवचित्त की गहनता का ही संकेत होगा, ऐसा लगता है। मात्र गुरु वसिष्ठ ने ही भरत के साथ पूर्ण न्याय किया है, ऐसा कहना चाहिए; क्योंकि राम वनवास के समय ही उन्होंने

कैकेयी को फटकार देते हुए कहा था कि भरत पिता के इस राज्य को इस तरह कभी स्वीकार नहीं करेंगे और वल्कल धारण करके बड़े भाई राम की भाँति वनवास करेंगे। भरत कुल-परंपरा के विरुद्ध कोई आचरण नहीं करेंगे, ऐसा वसिष्ठ ने विश्वासपूर्वक कहा है।

एक बात यहाँ याद रखनी चाहिए कि राम ज्येष्ठ भ्राता अवश्य थे, परंतु राम और भरत के बीच दो-चार दिन से अधिक लंबा अंतराल रहा हो, ऐसी संभावना नहीं। माताओं का गर्भाधान एक साथ हुआ है, इसलिए इन दो भाइयों के जन्म के बीच लंबा अंतराल रहा हो, यह संभव नहीं। इतना ही नहीं, एक ऐसी बात भी रामायण में है, जिसकी अधिक जानकारी लोगों तक नहीं पहुँची। राजा दशरथ ने कैकेयी के साथ विवाह किया तो कैकेयी के पिता के साथ ऐसी पूर्व-शर्त भी स्वीकार की थी कि इस विवाह से उत्पन्न पुत्र ही अयोध्या का भावी राजा होगा। यह बात स्वयं राम भी जानते थे और राम ने यह बात भरत को चित्रकूट में बताई भी है (अयोध्याकांड : सर्ग १०७/३)। इस प्रकार, भरत का अयोध्या का राजा बनना, उनके जन्म के पूर्व निर्धारित हो चुका सत्य था। यदि भरत ने राज्य स्वीकार कर लिया होता तो इस शर्त के अनुसार पिता के वचन पालन का धर्म ही निभाना होता, ऐसा तर्क भी हो सकता है। जिस प्रकार अरण्यवास, पिता के वचन पालन का राम द्वारा निभाया गया पुत्रधर्म था, उसी प्रकार विवाह के पूर्व ही पिता ने जो वचनबद्धता दिखाई थी, उसका अनुशीलन करना भरत का भी पुत्रधर्म था, ऐसा कहा जा सकता है। परंतु भरत के समक्ष इस पुत्रधर्म और ज्येष्ठ पुत्र को ही सिंहासन मिले, इस कुलधर्म के बीच जो अधिक श्रेयस्कर हो, उसे स्वीकार करने की दुविधा पैदा हुई थी, ऐसा कहा जा सकता है। इक्ष्वाकु-परंपरा में ज्येष्ठ पुत्र जहाँ तक योग्य हो, वहाँ तक सिंहासनारूढ़ हो, यह स्थापित हुआ था। राम सर्वथा योग्य ज्येष्ठ पुत्र थे, इस विषय में तो स्वयं कैकेयी ने भी शंका नहीं की थी। भरत के चित्त में राम के प्रति असीम प्रेम है, पूज्यभाव है और राम ही सर्वोचित उत्तराधिकारी हैं, इस विषय में तिल मात्र शंका नहीं। ऐसी स्थिति में जो धर्मसंकट पैदा होता है, उसमें मानो महाभारत-कथित धर्म की विभावना का भरत ने जाने-अनजाने अनुशीलन किया है, ऐसा अनुभव हुए बिना नहीं रहता। महर्षि व्यास कालक्रम में वाल्मीकि के अनुवर्ती हैं और महाभारत की घटनाएँ भी रामायण की घटनाओं के बाद हुई हैं। इसके बावजूद धर्म की विभावना तो शाश्वत है। उच्च-कोटि के व्यक्ति धर्म-तत्त्व को, शब्द में प्रकट न हुआ हो तो भी, एक समान ही समझते हैं। महाभारत में विदुर तथा स्वयं कृष्ण के मुँह से भी धर्म की एक स्पष्ट समझ महर्षि व्यास ने बार-बार व्यक्त की है—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत।
ग्रामं जनदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत॥

अर्थात् दो धर्मों के बीच जीवन में जब भी संघर्ष हो तो व्यक्तिगत धर्म का भोग देकर समष्टि-प्रेरित धर्म को स्वीकार करना चाहिए। भरत के समक्ष यही प्रश्न उपस्थित हुआ है और उन्होंने पितृवचन के व्यक्तिगत धर्म का अनुशीलन करने के बदले कुल-परंपरा के समष्टि-प्रेरित धर्म का अनुशीलन करना श्रेयस्कर माना है, ऐसा कहना चाहिए।

विवाह के तुरंत बाद ही मामा युधाजित के साथ ननिहाल गए भरत की अनुपस्थिति में ही राम का राज्याभिषेक कर लेने के पीछे राजा दशरथ के मन में संभवत: यही उलझन रही हो, ऐसा संभव है। ननिहाल गए भरत पिता तथा भाइयों को रोज याद करते हैं और उनके कुशल-क्षेम के लिए चिंता भी करते हैं। राजा की मृत्यु के बाद भरत को अयोध्या ले जाने के लिए गुरु वसिष्ठ द्वारा भेजे दूतों के समक्ष भरत अयोध्या का जो कुशल-मंगल पूछते हैं, उसमें अपनी तीनों माताओं के विषय में भरत के प्रति भाव उजागर होते हैं। कौशल्या के लिए भरत 'धर्मपरायण' तथा सुमित्रा के लिए 'धर्मज्ञा' जैसे विशेषणों का प्रयोग करते हैं। पर सगी जनेता कैकेयी के लिए 'उग्र स्वभाववाली',

'कोपशीला' एवं 'स्वार्थी' जैसे विशेषण प्रयुक्त किए हैं। इसका अर्थ यही हुआ कि पूरी घटना जानने से पहले ही भरत ने माताओं का सही मूल्यांकन किया है। कैकेयी के जन्मदात्री माता होने के बावजूद भरत ने यह जो मूल्यांकन किया है, इससे भरत की प्रकृति में स्थित तटस्थ तथा संतुलित बुद्धि प्रकट होती है।

अयोध्या आते ही माता कैकेयी के महल में वे सबसे पहले पिता का समाचार पूछते हैं। राजा की मृत्यु का समाचार माता से सुनकर भरत अतिशय व्यथित हुए और तत्काल शांत होकर राम के विषय में पूछा। राम-वनवास की बात जानने के बाद भरत ने जो दो-तीन प्रश्न किए हैं, वे अतिशय अर्थपूर्ण हैं। पिता दशरथ ने राम जैसे पुत्र को वनवास की आज्ञा दी है, यह जानकर भरत के चित्त में सबसे पहली शंका इस प्रकार व्यक्त हुई—'ज्येष्ठ भ्राता ने क्या कोई धर्म-विरुद्ध आचरण किया होगा? क्या राम ने किसी ब्राह्मण का धन हर लिया होगा? या किसी निर्दोष व्यक्ति की हत्या की होगी अथवा राम का मन किसी पराई स्त्री में आसक्त हुआ हो?'

मात्र ये कर्म ही ऐसे हैं कि जिनके कारण राजा पुत्र को वनवास का दंड दे सकता है, अन्यथा भरत के मन में कोई भी शंका नहीं। माता ने जब अपने द्वारा पति से प्राप्त किए वरदान की बात की तो 'माँ! तूने मुझे मार डाला!' यह उद्गार भरत व्यक्त करते हैं। इसके बाद कैकेयी के सामने भरत जो आक्रोश व्यक्त करते हैं, उसमें कहीं औचित्य की मर्यादा का उल्लंघन होता हो, ऐसा भी किसी को लग सकता है—''तू मेरे पिता के जीवन में अंगारे जैसी है! तू पापिनी, कुल-कलंकिनी और दुराचारिणी है! तू नरक में जाएगी और तेरा पुत्र होने का कलंक मुझे सालता है! अब तू जलती आग में कूदकर जल जा अथवा गले में रस्सी बाँधकर प्राण त्यागकर!'' ऐसे असंख्य कटुवचन भरत कहते हैं। इन कटुवचनों को भरत के तत्कालीन रोष के संकेत के रूप में समझना चाहिए। ऐसा कहने के बाद भी शत्रुघ्न जब मंथरा पर प्रहार करते हैं तो भरत उन्हें रोकते ही हैं। इस प्रकार भरत कोमल-हृदय के तो हैं ही, परंतु पिता की मृत्यु जिस प्रकार हुई और राम का वनवास जिन परिस्थितियों में हुआ, उसके आघात से मानव-सहज आक्रोश उन्होंने व्यक्त किया है।

राजा की मृत्यु के बाद भरत आठवें दिन अयोध्या पहुँचे हैं। एक ऐसी भी समस्या यहाँ पैदा होती है कि केकेय से अयोध्या पहुँचने में भरत को सात दिन जितना लंबा समय क्यों लगा होगा? यह बात स्मरण में रखनी चाहिए कि अयोध्या से भरत को लिवा आने के लिए केकेय गए दूत एक ही दिन में पहुँच गए हैं (अयोध्याकांड : सर्ग ६८/२२)। पर केकेय से शीघ्रता से वापस लौटते समय भरत यह मार्ग सात दिन में तय करते हैं (अयोध्याकांड : सर्ग ७२/८)। भरत ने दूतों से अलग मार्ग पकड़ा है, इसकी स्पष्टता भी हुई है। दूतों का मार्ग यदि छोटा था तो भरत ने यह लंबा मार्ग क्यों चुना होगा, यह प्रश्न अनुत्तरित रहता है। राजा का अग्निदाह दूसरे दिन अर्थात् मृत्यु के आठवें दिन हुआ है, परंतु अग्निदाह भरत ने ही किया, इस विषय में आशंका रहती है। राजा ने मृत्यु से पूर्व कैकेयी तथा भरत को अपने तमाम अंत्येष्टि तथा श्राद्ध-संस्कारों से वंचित रहने का आदेश दिया था। तदनुसार भरत ने यह संस्कार नहीं भी किया हो, ऐसा लगता है; क्योंकि अंतिम संस्कार का जो वर्णन अयोध्याकांड के ७६वें सर्ग में है, उसमें मात्र दाहकर्म हुआ, इतना ही उल्लेख है। इतना ही नहीं, राजा के श्राद्धकर्म के बारहवें और तेरहवें दिन की गणना भी दाहकर्म के दिन से ही हुई है। इसका अर्थ यह हुआ कि राजा की मृत्यु के बाद पूरे उन्नीसवें या बीसवें दिन श्राद्ध संस्कार हुए हैं। यह शास्त्रोक्त गणना ध्यान में लेने योग्य हैं। हिंदू विधि-विधान अनुसार श्राद्ध-कर्म का तेरहवाँ दिन मृत्यु के दिन से नहीं, बल्कि दाहकर्म के दिवस से गणना में लिया जाना—ऐसा स्पष्ट संकेत इसमें है।

इसके बाद राज्य को स्वीकार करने से इनकार कर भरत राम को वापस लाने के लिए चित्रकूट गए। मार्ग में निषादराज गुह तथा मुनि भरद्वाज से उनकी मुलाकात हुई। भरद्वाज ऋषि के आश्रम में भरत ने मंत्रीगण, लाव-लश्कर तथा राज्य परिवार के साथ रैन-बसेरा किया है। मुनि भरद्वाज ने यौगिक शक्ति से आश्रम में ऐसे रात्रिवास

के लिए भव्य सुविधाएँ उपलब्ध कराई हैं। इन सभी राजवंशी अतिथियों के लिए सुरापान, मांसभक्षण तथा एक-एक पुरुष को स्नान कराने के लिए सात-आठ तरुण स्त्रियों का भी समावेश होता है।

सुरा तथा मांस के विषय में समय-समय पर विवाद हुए हैं। मांस शब्द का एक अर्थ 'फल का गर्भ' ऐसा भी हुआ है, इसलिए अतिथि-सत्कार के लिए फल उपलब्ध कराए होंगे, ऐसा अर्थघटन करने का यदि कोई शुद्ध शाकाहारी वैष्णवजन प्रयास करे तो उसे तत्काल खारिज कर दें—ऐसी स्पष्टता अयोध्याकांड सर्ग ९१/७० में है। उसमें लिखा है—''कुएँ के किनारे पर गरम किए कुंड में पकाया गया मृग, मोर तथा मुर्गे के स्वच्छ मांस के ढेर लगाए गए थे।'' पूर्व काल के क्षत्रिय मांसाहारी हों, इसमें कोई आघातजनक बात नहीं। इक्ष्वाकुवंशियों को शुद्ध शाकाहारी ही ठहराना, ऐसा आग्रह तार्किक नहीं। मांसाहार के प्रति राम तथा सीता ने भी अन्यत्र तिरस्कार व्यक्त किया है, यह सही है और क्रूरकर्मा राक्षसों को मांसाहारी कहकर निंदित भी किया है। इसके बावजूद मांसाहार तथा सुरापान—ये दोनों लक्षण इक्ष्वाकुवंश में रहे भी हों, ऐसा स्वीकार करने में क्षोभ करने की जरूरत नहीं। आज भी इस देश के अधिकांश वर्ग मांसाहारी हैं और इसमें स्वयं को ब्राह्मण कहलानेवाले बंगाली भी अपवाद नहीं। श्रीराम कृष्ण परमहंस ने अपनी प्रार्थना सभा में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रण देते हुए सबसे ऐसा भी कहा था—'हे भक्तजनों, यहाँ आएँ और कीर्तन करें, इस कीर्तन में मछली के स्वाद से भी अधिक स्वाद आता है।'

चित्रकूट में जब भरत राम से मिलते हैं तो एक अनुपम संवाद का सृजन होता है। भरत तथा कुलगुरु वसिष्ठ इक्ष्वाकु-परंपरा को लक्ष्य में रखकर इस परंपरा की रक्षा राम का धर्म है, इस तर्क के साथ उन्हें वापस लौटने के लिए कहते हैं; परंतु पिता की आज्ञा ही उनका धर्म है—ऐसा तर्क राम आगे रखते हैं। समझाने से जब भरत राम को उनके विचार से विचलित नहीं कर पाते हैं तो वे धरने का मार्ग अपनाते हैं। राम के बदले वे स्वयं चौदह वर्ष वन में रहें, ऐसा प्रस्ताव भी रखते हैं। यदि राम वापस न आएँगे तो वे स्वयं यहाँ रह जाएँगे, ऐसा सत्याग्रह भी करते हैं। समझाना-बुझाना और सत्याग्रह दोनों जब सफल नहीं होते हैं तो भरत राम के समक्ष स्वयं को अर्पित करते हैं और राम की आज्ञानुसार ही स्वयं अयोध्या वापस लौटकर राम की ओर से राज्य सँभालेंगे, ऐसा स्वीकार करते हैं। इस स्वीकार के साथ ही राम के प्रतीक के रूप में उनकी पादुकाओं को सिंहासन पर आरूढ़ करके स्वयं उन पादुकाओं के अनुचर के रूप में कार्यभार सँभालेंगे, ऐसी भी स्पष्टता करते हैं। इसके बदले में राम को ठीक चौदहवें वर्ष की समाप्ति के दिन अयोध्या में वापस आकर राज्यभार सँभाल लेना है, ऐसा समझौता भी होता है।

यहाँ एक रोचक प्रश्न भी पैदा होता है। राम को वनवास और भरत को सिंहासन, यह पिता का वचन था और राम पिता के इस वचन-पालन को ही धर्म के रूप में सतत प्रायोजित करते रहे हैं। इस वचन में चौदह वर्ष के बाद राम का पुनः राजा बनना जैसी कोई शर्त नहीं थी। वास्तव में राजा तो भरत ही रहें, ऐसा वचन था और राम चौदह वर्ष के वनवास के बाद भले अयोध्या वापस लौटें, परंतु वे राजा बनें इसमें तो पितृवचन के मूलभाव को ही हानि पहुँचती है। इसके बावजूद भरत और राम के बीच वसिष्ठ की उपस्थिति में यह एक प्रकार का समझौता हुआ है, ऐसा कहना पड़ेगा। इस समझौते के अनुसार, भरत राम के साथ रहकर वनवास करें अथवा पिता के वचनानुसार राज्य स्वीकार करें—इन दोनों विकल्पों को खारिज कर उसके बदले राम के प्रतिनिधि के रूप में उनकी पादुका सिंहासनारूढ़ करके चौदह वर्ष तक राज-पाट सँभालें और राम चौदह वर्ष बाद सिंहासनारूढ़ हों, ऐसा समझौता हुआ है।

यहाँ राम ने भरत के कुशल-क्षेम पूछने के साथ ही जो कई प्रश्न किए हैं, वे प्रश्न व्यावहारिक जीवन तथा तत्कालीन राजनीति पर समुचित प्रकाश डालते हैं। अयोध्याकांड के १००वें सर्ग में इन प्रश्नों द्वारा राम का राजनीतिक-दर्शन भी प्रकट हुआ है। राजा को कैसे मंत्रियों का चयन करना चाहिए, किसे किन कार्यों में नियुक्त

करना चाहिए, किसके साथ किस प्रकार की मंत्रणाएँ करनी चाहिए तथा प्रजा का निर्भय होकर किस सीमा तक राजा के पास आना उचित कहा जाएगा—इन और ऐसे अनगिनत प्रश्नों के विषय में राम ने सुंदर मार्गदर्शन दिया है। इसमें शत्रु राजा के असंतुष्ट सेवकों को अपने पक्ष में फोड़कर अपना हित साध लेने जैसी राजनीति भी राम ने दरशाई है। (विभीषण के साथ के राम के व्यवहार के मूल में यह राजनीति हो, ऐसी संभावना है।)

चित्रकूट से वापस लौटने के बाद भरत ने तत्काल नंदीग्राम में ही निवास किया है। नंदीग्राम में राम की पादुका को सिंहासन पर अभिषिक्त करके भरत ने मंत्रीगण तथा समस्त प्रजा से कहा है कि अब के बाद आप सभी इन पादुकाओं को ही राजा मानिएगा और राम की इस अमानत (धरोहर) को सँभालने तक ही मैं शासन करूँगा। इस प्रकार, वनवास जैसा जीवन ही भरत ने स्वीकारा और राम के पुनरागमन तक उन्होंने यह त्याग प्रसन्नतापूर्वक निभाया। उनके इस त्याग के विषय में स्वयं लक्ष्मण ने भी वनवास के दौरान राम से कहा है कि भरत ने इस परम त्याग द्वारा स्वर्गलोक पर विजय प्राप्त कर ली है।

भरत के आलेखन के विषय में महर्षि वाल्मीकि ने रामायण में मानो दो भाग कर डाले हैं। अयोध्याकांड के बाद भरत के छिटपुट नामोल्लेख के सिवा शायद ही महत्त्वपूर्ण कामगीरी भरत द्वारा दिखाई गई है। अरण्यकांड, किष्किंधाकांड, सुंदरकांड तथा युद्धकांड के अंतिम चरण के सिवाय भरत कहीं दिखाई नहीं देते। चौदह वर्ष के नंदीग्राम-निवास के दौरान भरत ने अयोध्या का शासन किस तरह सँभाला, माताओं अथवा पत्नी के सहज पारिवारिक धर्म को निभाया कि नहीं तथा शासनकाल के दौरान अन्य कोई समस्याएँ—इन सबके विषय में कोई भी उल्लेख रामायण में नहीं है। भरत के नंदीग्राम-निवास के बाद भरत के विषय का सक्रिय उल्लेख युद्धकांड के अंतिम चरण में, राम जब अयोध्या वापस लौटते हैं, तभी होता है। (जबकि रावण के साथ के युद्ध के समय बेहोश पड़े राम-लक्ष्मण के लिए औषधि लेने गए हनुमान पर भरत ने बाण-प्रहार कर उन्हें घायल किया था, ऐसा कथानक तुलसीदास के रामचरित मानस में है और यह खासा लोकप्रिय भी है। पर मूल रामायण में इस घटना का उल्लेख नहीं है।)

लंका-विजय के बाद वापस लौट रहे राम जब प्रयाग के निकट पहुँचते हैं, उस समय हनुमान को आगे से नंदीग्राम जाकर भरत से मिलने की जो सूचना देते हैं, इसका उल्लेख पहले हो चुका है। भरत इस चौदह वर्ष की अवधि में शायद बदल गए हों और अब राम का पुनरागमन हो—ऐसा नहीं भी चाहते हों, ऐसी आशंका राम के मन में पैदा हुई थी। यदि ऐसा हो तो राम स्वयं वापस लौट जाएँ और भरत को ही सुखपूर्वक राज करने दें, ऐसा उदात्त भाव भी राम ने व्यक्त किया है। हनुमान भरत से मिलकर वापस लौटें और भरत के मनोभाव के विषय में जानकारी दें, उसके बाद ही राम अयोध्या वापस लौटेंगे—ऐसा संकेत भी राम ने दिया है।

इसके बाद जिस प्रकार घटनाएँ दरशाई हैं, उनमें हनुमान के वापस लौटने के बाद ही राम नंदीग्राम पहुँचे थे, ऐसी स्पष्टता है। (युद्धकांड-१२५/१८ तथा १२७/३९) राम के पुनरागमन का समाचार हनुमान द्वारा जानकर भरत ने अपार प्रसन्नता व्यक्त की तथा ऐसा शुभ समाचार देने के लिए हनुमान को पुरस्कार से नवाजा। इस क्षण तक राम के अरण्यकाल के किसी वृत्तांत से भरत परिचित हों, ऐसा लगता नहीं, क्योंकि युद्धकांड : सर्ग १२६/३ में भरत हनुमान से प्रश्न करते हैं—''सौम्य! श्रीराम और वानरों के बीच किस प्रकार संबंध स्थापित हुआ? किस देश में और किस तरह यह सब हुआ—यह सब मुझे सविस्तार कहो।'' इसका स्पष्ट अर्थ इतना ही होता है कि सीता का अपहरण हुआ तथा राम का रावण के साथ जो संघर्ष हुआ, उसकी कोई भी जानकारी भरत को नहीं थी। इसके बाद हनुमान ने ये सारी बातें भरत को सविस्तार कहकर सुनाई हैं। फिर भी अन्यत्र यानी कि उत्तरकांड में (सर्ग ३८) भरत द्वारा ऐसा भी कहा गया है कि सीता के अपहरण का वृत्तांत सुनकर भरत ने अन्य राजाओं को एकत्र किया था

तथा राम की सहायता के लिए जाने पर विचार किया था। (ओरिएंटल इंस्टीट्यूट, वडोदरा द्वारा प्रकाशित रामायण के अधिकृत पाठ में यद्यपि उत्तरकांड का समावेश हुआ है, परंतु कई विद्वान संपूर्ण उत्तरकांड को ही प्रक्षिप्त मानते हैं।)

उत्तरकांड की इस बात को यदि स्वीकार करें तो तत्काल यह प्रश्न पैदा होता है कि भरत ने अन्य राजाओं को सहायतार्थ बुलाया, फिर भी राम की मदद पर जाने का कृत्य आचरण में क्यों नहीं लाया गया? सीताहरण तथा रावण के साथ के आर-पार के युद्ध की जानकारी होने के बावजूद भरत अलिप्त रह नहीं सकते। इसका अर्थ यही होता है कि उत्तरकांड की यह बात बहुधा क्षेपक ही होनी चाहिए।

राज्यारोहण के क्षण युवराज पद पर राम किसका अभिषेक करें—यह प्रश्न भी पैदा हुआ है। सामान्यत: आनुवंशिक आधार पर राम के बाद चारों भाइयों में भरत दूसरे क्रम पर होने के कारण उनका युवराज पद के लिए नैसर्गिक अधिकार माना जाएगा। इसके बावजूद इस पद के लिए राम ने लक्ष्मण को पसंद किया था। लक्ष्मण ने इस पद को स्वीकार नहीं किया, इसके बाद ही राम ने भरत को युवराज के पद पर स्थापित किया। भरत का युवराज पद पर अधिकार होते हुए भी राम ने पहली पसंदगी लक्ष्मण की क्यों की, ऐसा प्रश्न सहज ही होता है। इतना ही नहीं, युवराज के पद पर जो भी अभिषिक्त हो, वह राजा के आकस्मिक निधन की स्थिति में राजा बने, यह धर्मसंगत परंपरा थी। जो इक्ष्वाकुवंश-परंपरा ज्येष्ठ को ही युवराज के पद पर अभिषिक्त करती है, ऐसा आग्रह भरत ने रखा था, उसी कुल-परंपरा का उल्लंघन यहाँ हुआ है, ऐसा लगे बिना नहीं रहता। ज्येष्ठ भ्राता के राज्यारोहण से पूर्व भरत ने उनकी पादुका उनके चरणों में पहना दीं और कहा कि मेरे पास आपने अमानत के रूप में जो राज्य रखा था, वह राज्य मैं आपको वापस देता हूँ। इस तरह भरत अपने समग्र चरित्र में अविरत निष्कलंक रहे हैं।

राम के राज्यशासन में भरत सिंधु तट पर बसे गंधर्वों के साथ युद्ध लड़े। उत्तरकांड के १००वें सर्ग में भरत द्वारा गंधर्वों पर किए गए आक्रमण की कथा है। यहाँ भी भरत के मामा युधाजित ने ही मुख्य भूमिका निभाई है। युधाजित ने महर्षि गार्ग्य को अयोध्या भेजा था और यह संदेशा भी भेजा था कि सिंधु नदी के तट पर स्थित गंधर्व देश अतिशय समृद्ध प्रदेश है। उसकी जनसंख्या तीन करोड़ की है तथा वे युद्धकला में निपुण हैं। इतना कहने के बाद मामा युधाजित ने राम को अकारण ही ऐसा आग्रह किया कि गंधर्वों का नाश करके यह प्रदेश जीत लेना चाहिए। राम ने तत्काल इस प्रस्ताव को स्वीकार किया और भरत को गंधर्वों का नाश करके यह प्रदेश जीत लेने का आदेश दिया। यह आदेश एक प्रश्न पैदा करता है। गंधर्व शांतिप्रिय थे। अपने प्रदेश में निरुपद्रवी जीवन व्यतीत करते थे। ऐसा होते हुए भी इन गंधर्वों का नाश करके उनका प्रदेश जीत लेने की बात राम ने क्यों स्वीकारी होगी, यह समझ में नहीं आता। भरत इस युद्ध में सेनापति पद पर रहे तथा गंधर्वों का नाश करके उन्होंने सिंधु तट पर तक्षशिला तथा पुष्कलावत (पेशावर?) नामक नगर बसाए तथा दोनों नगर अपने पुत्रों को सौंपकर वापस अयोध्या लौटे।

कालक्रम में राम ने जब अपनी जीवनलीला समाप्त की तो भरत भी उनके साथ ही स्वधाम गए, ऐसा उल्लेख उत्तरकांड में है। इस प्रकार भरत के यशस्वी और अनुपम जीवन की समाप्ति हुई, पर इस सूत्रमाला के मोतियों के बीच भरत सबसे मूल्यवान् और तेजस्वी मोती के रूप में सुशोभित हैं।

❑

—५—
कौशल्या

राजा दशरथ के अंत:पुर में संख्या की दृष्टि से कुल साढ़े तीन सौ रानियाँ थीं, ऐसा स्पष्ट उल्लेख वाल्मीकि रामायण में है। इन साढ़े तीन सौ में से मात्र तीन रानियों के नाम हमें मिलते हैं। ये तीन रानियाँ अर्थात् कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी। इनमें कौशल्या सबसे वरिष्ठ रानी हैं, इसकी स्पष्टता भी महर्षि वाल्मीकि कर चुके हैं। रानी सुमित्रा मझली रानी तथा कैकेयी कनिष्ठ रानी हैं। भगवान् विष्णु ने जब पृथ्वीलोक में जन्म धारण कर रावण का वध करने की देवताओं की प्रार्थना स्वीकार की तो देवताओं ने इन तीन रानियों का जो उल्लेख किया है, उनका ह्र, श्री और कीर्ति के रूप में परिचय कराया है। 'ह्र' अर्थात् मर्यादा और इस अर्थ में इसका अर्थ शालीनता हो सकता है। 'श्री' शब्द के जो अनेक अर्थ संस्कृत शब्दकोश में दिए गए हैं, उनमें से एक अर्थ बुद्धि और दूसरा अर्थ धर्म भी है। 'कीर्ति' शब्द का जो अर्थ-विस्तार दिया है उसमें यश, प्रसन्नता, कांति, प्रतिष्ठा—अर्थ दिए गए हैं। देवताओं ने दशरथ की जिन तीन रानियों के लिए ये शब्द प्रयुक्त किए हैं, उसमें कहीं ऐसी स्पष्टता नहीं होती कि कौन सा विशेष गुण किस रानी के लिए उनके मन में अभिप्रेत था। इसके बावजूद राजा की इन तीनों रानियों के व्यक्तित्व तथा पात्रालेखन को लक्ष्य में लेकर विद्वानों ने 'ह्र' अर्थात् शालीनता वरिष्ठ रानी कौशल्या के लिए 'श्री' अर्थात् धर्म और बुद्धि मझली रानी सुमित्रा के लिए और 'कीर्ति' अर्थात् यश व प्रतिष्ठा कनिष्ठ रानी कैकेयी के लिए मेल खाता हुआ माना है। देवताओं ने ये तीनों शब्द जिस क्रम में प्रयुक्त किए हैं, वह क्रम भी कौशल्या, सुमित्रा तथा कैकेयी—इस अग्रता क्रम में हैं।

सर्वप्रथम महारानी कौशल्या के विषय में बात करें तो वह कौशल देश की पुत्री थीं, ऐसा उल्लेख अन्यत्र मिलता है। पांचाल की राजकुमारी पांचाली कही जाती है और केकय की राजकुमारी कैकेयी कही जाती है तथा मिथिला की राजकुमारी मैथिली के रूप में जानी जाती है, उसी तरह कौशल्या की यह संज्ञा भी पितृपक्ष कौशल देश के साथ के उनके संबंध की ओर संकेत करती है। इसके साथ ही अयोध्या नगरी कौशल नाम के जनपद में सरयू-तट पर बसी थी, ऐसी स्पष्टता बालकांड के पाँचवें सर्ग में हुई है। उत्तरकांड के १०७वें सर्ग में राम ने स्वधाम जाने से पूर्व अपने देश कौशल को लव तथा कुश के बीच विभाजित कर दिया, ऐसा उल्लेख है। इसका अर्थ यह हुआ कि दशरथ ने जिसका आधिपत्य भोगा था, वह इक्ष्वाकुवंशी राज्य अयोध्या ही कौशल प्रदेश था। यदि ऐसा हो तो कौशल्या पितृपक्ष तथा श्वसुर पक्ष—दोनों तरह कौशल के साथ संबद्ध कही जाएँगी।

लंबे वैवाहिक जीवन के बावजूद अपुत्र रहे राजा दशरथ ने पुत्रेष्टि-यज्ञ किया और यज्ञ-देवता से प्रसाद-स्वरूप प्राप्त की गई खीर को उन्होंने अपनी तीनों रानियों के बीच बाँट दिया। राजा ने इस खीर का आधा भाग महारानी कौशल्या को दिया। स्मरण रहे कि रामायण में बार-बार ऐसी स्पष्टता है कि पटरानी भले कौशल्या हों, परंतु राजा की प्रिय और चहेती रानी तो कैकेयी ही हैं। इसके बावजूद यज्ञ की पूर्व संध्या पर पति के साथ यज्ञ के लिए दीक्षित होनेवाली रानी कौशल्या ही थीं और यज्ञ के अश्व के साथ विधिपूर्वक सहवास कौशल्या द्वारा ही हुआ था। यज्ञ-देवता का यह प्रसाद राजा ने तीनों रानियों को यानी तीनों पत्नियों के बीच समान भाग में भी नहीं बाँटा था। उन्होंने कौशल्या को आधा भाग दिया। यदि कैकेयी को आधा भाग दिया होता तो राजा की चहेती रानी होने के कारण ऐसा हुआ—ऐसा समझा जा सकता था। इक्ष्वाकुवंश में श्रेष्ठ राजकुमार सिंहासन का अधिकारी बने, इस परंपरा को ध्यान में रखते हुए राजा ने इस बड़ी रानी (कौशल्या) को आधा भाग दिया हो, ऐसा संभव है।

कैकेयी भले ही प्रिय रानी थी और राजा अधिकांश समय कैकेयी के साथ ही व्यतीत करते रहे हों, पर राजा के मन मे कौशल्या के लिए अनुराग था और उन्होंने कैकेयी के साथ के अपने व्यवहार के कारण कौशल्या के साथ अन्याय किया है, ऐसा राजा के मन में गहरे-गहरे बसा था, ऐसा लगता है (अयोध्या कांड—१२/६८-६९)। राजा ने राम के अरण्यवास के क्षण जो विलाप किया है, उसमें उन्होंने कैकेयी के कारण कौशल्या के साथ अन्याय किया है, यह स्वीकारोक्ति भी है। इसके उपरांत मंथरा ने रामवनवास के लिए कैकेयी से जो बात की है, उसमें ऐसा शब्द प्रयोग हुआ है कि पहले राजा का अतिशय प्रेम प्राप्त होने के कारण कैकेयी ने गर्विष्ठ होकर कौशल्या को दुत्कारा था (अयोध्याकांड—८/३७)।

वनवास के लिए विदा के क्षण राम ने माता से आशीर्वाद माँगा तो कौशल्या ने जो विलाप किया है, उसमें अपने वैवाहिक जीवन के विषय में असंतोष भी व्यक्त किया है। पति के शासनकाल में जो सुख प्राप्त होना चाहिए, वह तो उन्हें कभी प्राप्त नहीं हुआ और अब पुत्र के राज्य में सुख मिलेगा, ऐसी जो अपेक्षा थी, वह भी जाती रही—ऐसा दु:ख कौशल्या ने प्रकट किया है। पति की ओर से उन्हें सदैव उपेक्षा ही मिली है और उनका स्थान तो कैकेयी की दासी के रूप में ही रहा है, ऐसा उल्लेख उन्होंने किया है।

इसके बावजूद, इससे पहले अपने व्यवहार में यह असंतोष कौशल्या ने कहीं भी प्रकट नहीं किया। राम के राज्याभिषेक का समाचार उन्हें मिला तो सुख के इस क्षण में कौशल्या ईश्वर की आराधना करती हैं और प्रभु का ध्यान धरती हैं। हर्ष का यह क्षण पलट गया और जो अप्रत्याशित परिस्थिति उत्पन्न हुई, उसमें वे धैर्य खो बैठीं और हृदय टूट जाए ऐसी इस परिस्थिति में वर्षों से मन में दबा असंतोष उन्होंने व्यक्त कर दिया है। पुत्र के अरण्यवास के अंत तक वे जीवित नहीं रहेंगी और उसके वियोग से उनकी अवश्य मृत्यु होगी—ऐसी विलाप भी करती हैं। वे भी राम के साथ ही वन में जाएँगी, ऐसा भी कहती हैं।

एक क्षण तो जब लक्ष्मण ऐसा कहते हैं कि राम को वृद्ध राजा की अधर्मयुक्त आज्ञा मानने की जरूरत नहीं और उन्हें कैद कर राजा बनना चाहिए तो कौशल्या भी लक्ष्मण की इस बात का अनुमोदन करती हैं और राम से उचित निर्णय लेने के लिए कहती हैं। इसमें एक क्षण उनकी स्वस्थता खंडित हो रही हो, ऐसा अनुभव हुए बिना नहीं रहता। इसके बाद राम ने 'पति की सेवा उनका (कौशल्या का) प्रथम कर्तव्य है', ऐसा कहा तो वे राम के साथ वन में जाने का अपना विचार बदलती हैं। इसके बाद उन्होंने राम को उनकी कल्याण-यात्रा के लिए आशीर्वाद दिया।

वन-गमन के लिए पुत्र को आशीर्वाद देने के बाद उन्होंने अपना धर्म निश्चित तो कर लिया परंतु यह धर्म-पालन कितना दुष्कर है, इसका साक्षात्कार इसके बाद उन्हें बार-बार होता रहा है। राम के विदा के समय वे पुत्रवधू को वल्कल धारण किए हुए देख नहीं पाती हैं और सारथि सुमंत्र ने जब रथ के अश्वों को हाँका, उस समय वे विलाप करती हैं कि उनका हृदय अवश्य ही लोहे का है, वरना वह फट क्यों नहीं जाता! राम के विदा होने के क्षण में कौशल्या पूरी तरह से विचलित हो चुकी हैं, परंतु इस विकट क्षण में भी राजा दशरथ जब विषादग्रस्त होकर ढह पड़े तो कौशल्या ने अपना दु:ख दबाकर पति को सहारा दिया। इसके बाद राजा दशरथ कैकेयी के भवन में वापस नहीं गए, किंतु उनके हाथ जो अन्याय हुआ है, उसका जैसे प्रायश्चित्त कर रहे हों, इस तरह वे रानी कौशल्या के आवास में प्रवेश करते हैं।

राम को वन में छोड़कर वापस आए सुमंत्र जब कौशल्या को राम का संदेश देते हैं तो फिर एक बार वे विचलित हो जाती हैं। तब आवेश में वे पति को कठोर वचन भी सुनाती हैं। पुत्र को वनवास देकर राजा ने समग्र जनपद तथा आर्यावर्त की परंपरा के साथ द्रोह किया है तथा कौशल देश की प्रजा का भी वध किया है, ऐसे कठोर वचन वे पति को सुनाती हैं। उस क्षण दशरथ पूरी तरह टूट जाते हैं और कौशल्या के समक्ष हाथ जोड़कर अपना अपराध स्वीकार

करते हैं तथा बार-बार क्षमा-याचना करते हैं।

दशरथ की यह दयनीय अवस्था देखते ही कौशल्या को अपनी कठोरता का भान हो जाता है और अब उनका प्रथम धर्म पति को सांत्वना देना है, यह समझने में उन्हें देर नहीं लगती। दशरथ दोषी हैं, राम अरण्यवासी हुए हैं, भरत अब राजा होने वाले हैं और कैकेयी राजमाता होगी—ये सभी विकट समस्याएँ सन्मुख होते हुए भी कौशल्या ने पुनः यहाँ अपनी शालीनता अक्षुण्ण रखी है और पति के समक्ष विनम्रता से वे बोल उठती हैं—''हे राजा! मैंने कठोर वचन बोलकर आपको दुःखी किया है। मुझे क्षमा करें! यदि आप क्षमा-याचना करेंगे तो मैं पापकर्मी कहलाऊँगी। मेरा स्त्रीधर्म अब इस विकट क्षण में आपके साथ रहना है। मैं जो कुछ बोल गई वह अनुचित था और पुत्रवियोग के कारण ही था।'' इस प्रकार कौशल्या अपना प्रकृतिप्रदत्त गुण पुनः प्राप्त कर लेती हैं।

पुत्र-वियोग की छठवीं रात दशरथ ने प्राण-त्याग किया तो कौशल्या तथा सुमित्रा दोनों उनके पास ही थीं, हालांकि राजा ने जब देह छोड़ी तो ये दोनों रानियाँ विलाप करते-करते निद्रावश हो गई थीं। पति के निर्जीव शरीर के पास ही रुदन करती कौशल्या निद्रावस्था में कैसी लगती थीं, महर्षि वाल्मीकि ने इसका वर्णन किया है। सोई हुई कौशल्या कांतिहीन हो गई थीं, उनकी देह का रंग बदल गया था और वे अंधकार से ढँकी तारिका जैसी दिखाई दे रही थीं। कौशल्या की आँख खुलीं और पति को मृतावस्था में देखा तो वे मूर्च्छित हो गईं। व्याकुलता की इस चरम अवस्था में उनका रोष अब कैकेयी की ओर मुड़ जाए, यह स्वाभाविक है। उन्होंने कैकेयी को दुराचारिणी, क्रूर आदि शब्दों से नवाजा और वे एकदम अनाथ हो गई हैं, यह कहकर पुनः विलाप किया।

दशरथ की मृत्यु के बाद भरत को बुलाने के लिए गए दूतों से भरत ने अयोध्या के विषय में जो समाचार पूछे हैं, उसमें उन्होंने कौशल्या को 'धर्मपरायणा' कहकर संबोधित किया है। अयोध्या वापस लौटने के बाद भरत जब पहली बार कौशल्या से मिलते हैं तो कौशल्या ने अपनी शालीनता के विपरीत भरत के प्रति कुशंका भी की है। भरत से उन्होंने कहा कि जिस राज्य की तुम्हें इच्छा थी, वह राज्य अब तुम्हें मिल गया है। अब तुम इसका यथेच्छ उपभोग करो और मुझे तथा सुमित्रा को राम के पास वन में भेज दो। भरत के लिए कैकेयी का व्यवहार जैसा आघातजनक था, वैसा और उतना ही आघातजनक कौशल्या का यह वचन था। भरत ने कौशल्या के इस वचन के समक्ष जो विलाप किया, उससे कौशल्या ने तुरंत अपनी भूल समझ ली और पुत्र भरत को गोद में ले लिया। इसके बाद राम को वापस ले आने के लिए भरत ने जब वन के लिए प्रयाण किया तो कौशल्या भी उनके साथ रही हैं और निषादराज गुह ने जब, राम जिस वृक्ष के नीचे घास बिछाकर सोए थे, उन्हें दिखाया तो भरत बेहोश हो गए। उस समय कौशल्या ने भरत को अपने अंक में ले लिया और उन्हें सांत्वना दी है। मार्ग में भरद्वाज ऋषि के आश्रम में भरत ने रात्रियापन किया, उस समय मुनि को कौशल्या का परिचय कराते हुए कहा है कि शोक और उपवास के कारण यह जो अंत्यत दुर्बल दिखाई देती हैं, वे मेरी बड़ी माता कौशल्या हैं। राम के वनगमन के समय तथा दशरथ की मृत्यु के समय कौशल्या व्यथित हुई अवश्य दिखाई देती हैं, परंतु व्यथा का यह आवेश वे तत्काल अपने वश में ले लेती हैं और इसके बाद जिस प्रकार पति के समक्ष प्रायश्चित्त प्रकट किया है, उसी प्रकार पुत्र राम को भी उन्होंने कहा है—

'धर्मज्ञ इति धर्मिष्ठ धर्मं चरितुमिच्छसि।' (अयोध्याकांड-२१/२३)

अर्थात् हे पुत्र! तू धर्मिष्ठ है। धर्म के जो अनुकूल है, उसी का आचरण कर। ऐसे कुछ विकट क्षणों को अपवाद मान लें तो कौशल्या अधिकांशतः संयत ही रही हैं।

राम-वनवास के बाद लगभग संपूर्ण अदृश्य रही महारानी कौशल्या इसके बाद राम के पुनरागमन के समय दिखाई देती हैं तो यह पुत्र-विरहिणी विधवा माता कैसी दुर्बल और कांतिहीन लगती है, इसका करुण चित्र वाल्मीकि ने हमें

दिया है। पुत्र के पुनरागमन के बाद दीर्घकाल पर्यंत कौशल्या ने 'राजमाता' का पद भोगा है, ऐसा संकेत मिलता है; परंतु इस कालावधि में उनका प्रदान नितांत निष्क्रिय ही रहा है। दीर्घकाल के बाद कौशल्या ने कालधर्म प्राप्त किया, ऐसा उल्लेख उत्तरकांड के सर्ग १००/१५ में मिलता है।

❑

—६—
सुमित्रा

भारतीय साहित्यकारों ने रामायण के विषय में जब भी बात की है, तब सुमित्रा तथा लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला को हमेशा उपेक्षिता नारी के रूप में दरशाया है। गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर ने उर्मिला को 'काव्य की उपेक्षिता' नामक ग्रंथ में दरशाया है। हिंदी के राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने भी अपने 'साकेत' नामक ग्रंथ में उर्मिला का विशद चरित्र-चित्रण किया है। जहाँ तक रामायण के घटनाक्रम का संबंध है, उर्मिला और सुमित्रा—इन दोनों का कोई योगदान नहीं है। उनके होने या न होने से रामायण के कथा-प्रवाह पर कोई असर नहीं होता। उर्मिला कविहृदय को आकर्षित करे, ऐसी मूक वेदना उनमें प्रज्वलित हुई हो, यह पूरी तरह संभव है। तथापि इस सास-बहू के युग्म में इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि सुमित्रा अधिक महत्त्वपूर्ण और अधिक उपेक्षित पात्र हैं।

देवताओं ने रामावतार से पूर्व जिन्हें 'श्री' अर्थात् धर्म और बुद्धि के रूप में सांकेतिक स्वरूप में दरशाया है, वह सुमित्रा राजा दशरथ की मध्यमा (मझली) रानी है। राजा की साढ़े तीन सौ में से जिन तीन रानियों के नाम हम जानते हैं, उनमें पटरानी कौशल्या के बाद तुरंत ही दूसरा नाम सुमित्रा का लिया जाता है। सुमित्रा के विषय में सबसे विशेष उल्लेखनीय और रसप्रद बात तो यह है कि वह किस राजा की पुत्री है और उसके मायके में कौन-कौन हैं और वे किस प्रदेश से संबंध रखते हैं, इस विषय में कोई भी उल्लेख महर्षि वाल्मीकि ने कहीं भी नहीं किया है। वरिष्ठ रानी कौशल्या और कनिष्ठ रानी कैकेयी किसी-न-किसी निश्चित प्रदेश से पहचानी जाती हैं। एकमात्र मध्यमा रानी सुमित्रा ही ऐसी स्त्री है कि जो मात्र अपने नाम से ही पहचानी जाती है। नाम और गुण का संबंध न हो, ऐसा संभव है, किंतु सुमित्रा के व्यक्तित्व में नाम और गुण मानो साथ ही जुड़ गए हों—ऐसा चरित्र वाल्मीकि रामायण में उभरता है। सुमित्रा में स्थित मित्रभाव उसके पात्र में सदैव धरातल पर ही दृश्यमान होता रहा है। वह अपने परिचय में आनेवाले हर व्यक्ति की अच्छी मित्र बनी रही हो, ऐसी प्रतिभा उभरती है।

पुत्रेष्टि-यज्ञ के बाद प्राप्त हुई यज्ञ-देवता के प्रसाद-स्वरूप खीर का आधा भाग राजा दशरथ ने पटरानी कौशल्या को दिया, इसके औचित्य के विषय में अनुमान लगाया जा सकता है। यद्यपि महर्षि वाल्मीकि ने स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा है, परंतु राजा ने विचारपूर्वक ऐसा किया, यह तो कहा ही है। इसके बाद बची आधी खीर का आधा भाग उसने सुमित्रा को दिया और अंत में जो चौथे भाग की खीर बची, उसका भी आधा भाग कैकेयी को दिया है। इस प्रकार कैकेयी को देने के बाद लगभग साढ़े बारह प्रतिशत भाग राजा ने किसलिए बचाया होगा, यह कहना कठिन है। और यह बचा हुआ भाग पुनः सुमित्रा को ही क्यों दिया, यह भी किसी तर्क से समझ में नहीं आता है। सुमित्रा को एक ही साथ ये दोनों भाग नहीं दिए, बल्कि दो बार अलग-अलग भाग में यह प्रसाद उन्हें दिया है और शायद इसी के परिणाम-स्वरूप सुमित्रा ने दो पुत्रों को जन्म दिया हो, ऐसा भी अनुमान लगाया जा सकता है।

रामायण के समग्र कथानक में सुमित्रा के संबंध राजा दशरथ, महारानी कौशल्या और पुत्र राम या लक्ष्मण तक ही सीमित रहे हों, ऐसा वर्णन है। पुत्रवधू उर्मिला के साथ भी सुमित्रा के संबंध या संवाद की कोई बात कहीं नजर में नहीं आती। पुत्र जब विवाह करके मिथिला से अयोध्या आते हैं तो उनके सत्कार के समय सुमित्रा उपस्थित तो जरूर हैं परंतु उपस्थिति के उल्लेख के सिवा अन्यत्र कोई बात नहीं मिलती। बरबस ही ध्यान खींचे, ऐसी एक बात यहाँ दिखाई देती है। यह बात किसी रामायणी या विद्वान् ने, ध्यान खींचे इस तरह रखी हो, ऐसा नहीं जान पड़ता है। पूरी रामायण में यह मझली रानी पति दशरथ के साथ एक भी संवाद नहीं करती। राजा दशरथ और सुमित्रा ने कभी-कभार एक दूसरे का उल्लेख किया है, किंतु ऐसा एक भी श्लोक नहीं मिलता, जिसमें पति-पत्नी ने परस्पर

एक शब्दोच्चार से भी बात की हो।

इसके अतिरिक्त एक दूसरी बात भी है, जो सुमित्रा के व्यक्तित्व को समझने में उपयोगी सिद्ध हो सकती है। राजा ने सुमित्रा के साथ कभी संवाद भले न किया हो, परंतु कोपभवन में कैकेयी ने जब भरत के राज्यारोहण और राम के वनवास का वचन माँगा तो राजा ने जो विलाप किया है, उसमें सुमित्रा के विषय में एक बहुत ही सारगर्भित उल्लेख है। राजा दशरथ कहते हैं कि राम को राज्याभिषेक के बदले अब यदि मैं वनवास दूँगा तो सुमित्रा कितनी विह्वल हो जाएगी और फिर वह कभी मेरा विश्वास नहीं करेगी (अयोध्याकांड—२/७१)। यहाँ ध्यान में लेने लायक बात यह है कि राम सुमित्रा के पुत्र नहीं हैं, फिर भी राजा के मन में सुमित्रा की व्यथा और संभावित अविश्वास की बात कचोटती है। सुमित्रा लक्ष्मण से भी अधिक राम को प्रेम करती है और राम को यदि वे वनवास देंगे तो कौशल्या से भी अधिक सुमित्रा का विश्वास डिग जाएगा, यह भय इस श्लोक में व्यक्त हुआ है। यह विभावना दशरथ और सुमित्रा के बीच अव्यक्त रहे संबंधों के विषय में अध्ययन-कर्ताओं को पर्याप्त संकेत देती है।

देवताओं ने जिसे 'श्री' अर्थात् बुद्धि के रूप में परिचित कराया है, ऐसी इस रानी की बुद्धि की स्वस्थता तथा ओजस्विता का दर्शन राम-वनवास के समय सुचारू रूप से प्रकट हुआ है। कैकेयी-महल से वनवास की आज्ञा लेकर राम जब बाहर निकले हैं, उस समय लक्ष्मण उनके साथ ही हैं। इसके बाद राम और लक्ष्मण दोनों कौशल्या के आवास में जाकर यह समाचार देते हैं और तत्पश्चात् राम सीता के महल में जाते हैं। राम और सीता के बीच पुष्कल संवाद भी होता है और सीता राम के साथ वन में जाएँगी, यह भी निश्चित होता है। लक्ष्मण ने तो इससे पहले ही वह राम के साथ जाएँगे, ऐसा असंदिग्ध रूप से कह दिया है। इस विषय में दोनों भाइयों के बीच जो मतभेद है, उसका भी पर्याप्त संवाद हो चुका है।

कौशल्या और राम ने स्वस्तिवाचन, पूजन, दान आदि किए। वल्कल वस्त्र धारण किए। सुमंत्र रथ भी जोड़कर लाए और उसके बाद ही सुमित्रा के पास राम, लक्ष्मण और सीता विदा लेने के लिए गए हैं। इस तरह लक्ष्मण ने स्वेच्छया वनवास स्वीकार करने का निर्णय लिया। इसकी जानकारी भी सुमित्रा को पहले से ही मिल चुकी होगी, ऐसा लगता है; क्योंकि विदा के समय जब लक्ष्मण ने माता के चरण स्पर्श किए तो उस समय सुमित्रा ने जो वचन कहे हैं, उससे वनवास की यह जानकारी उनके लिए कोई नया समाचार नहीं, ऐसा लगे बिना नहीं रहता। सुमित्रा ने एक क्षण भी विचलित हुए बिना पुत्र लक्ष्मण को आशीर्वचन देते हुए कहा है—''हे पुत्र! तू ज्येष्ठ भ्राता राम का परम अनुरागी है, इसलिए मैं तुझे वनगमन के लिए आशीर्वाद देती हूँ। तू बड़े भाई की सेवा में कभी प्रमाद नहीं करना। वत्स, जा, तू खुशी से जा! तेरा मार्ग मंगलमय हो!'' इतना कहने के बाद सुमित्रा जो बात कहती हैं, वह एक ही श्लोक सुमित्रा के चरित्र को रामायण के सभी पात्रों के बीच ओजस्वी बना देता है। वह श्लोक इस प्रकार है—

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥

—अयोध्याकांड-४०/९

अर्थात्, हे पुत्र! राम में तुझे अब दशरथ का दर्शन करना और जनकसुता जानकी को तू सुमित्रा मानना और अरण्य (वन) को अयोध्या ही समझना। हे पुत्र! अब तू सुखपूर्वक यहाँ से प्रस्थान कर।

राम-वनवास के समय जब सभी नहीं जाने के लिए आक्रंद करते हैं तो इस शोरगुल के बीच एकमात्र सुमित्रा का ही स्वस्थ स्वर सुनाई देता है। सुमित्रा के स्वर में वन में न जाने की नहीं, बल्कि जाने की बात है। इतना ही नहीं, सुखपूर्वक जाने की बात है। वनगमन निश्चित ही है और जब कुछ निश्चित ही है तो उसे स्वस्थतापूर्वक स्वीकार करना ही धर्म है। धर्म का यह अनुशीलन सुमित्रा के सिवाय उस क्षण किसी ने नहीं दरशाया। स्वयं राम भी अस्वस्थ

हुए हों, इस आशय के श्लोक इस क्षण मिलते हैं। राम ने दशरथ, कैकेयी या भरत के विषय में ऐसे उच्चारण करने के साथ बार-बार रुदन भी किया है, पर एकमात्र सुमित्रा ही ऐसी पात्र हैं, जो रोई नहीं। सुमित्रा पहली बार विह्वल होकर रुदन कर रही हों, ऐसा प्रसंग मात्र राजा दशरथ के स्वर्गवास के विषय का ही है।

राम और लक्ष्मण के वनगमन के बाद कौशल्या फिर एक बार आक्रंद करती हैं और बेहोश हो जाती हैं तो सुमित्रा ने कौशल्या को जो सांत्वना दी है, उसमें राम के प्रति उनका प्रेम और अगाध विश्वास प्रकट हुए हैं। जिसके प्रति हमारे मन में अटूट विश्वास होता है, उसके विषय में हम व्यथित या चिंतित नहीं होते। श्रद्धा या विश्वास का अर्थ ही चिंतामुक्ति है। यदि श्रद्धा के साथ चिंता भी यथावत् रहती हो तो वह श्रद्घा उतनी मात्रा में खंडित होती है। अपना पुत्र लक्ष्मण भी चौदह वर्ष के लिए वन में गया है, यह जानते हुए भी विलाप करती कौशल्या को सुमित्रा जब सांत्वना देती हैं तो महर्षि वाल्मीकि ने उनके लिए 'धर्मपरायणा' विशेषण का प्रयोग किया है। सुमित्रा कहती हैं —''राम तो उत्तम गुणों से युक्त श्रेष्ठ पुरुष हैं और साथ ही धर्मिष्ठ हैं। ऐसे पुत्र की कोई चिंता या शोक नहीं करना चाहिए। जो धर्म में आसक्त है, उसका कोई किसी प्रकार का बुरा कर ही नहीं सकता। उसे सूर्य, अग्नि, वायु—ये सभी मंगलमय ही प्राप्त होते हैं।'' इस तरह सुमित्रा अपने पुत्र-विरह का शोक कहीं प्रकट नहीं करतीं। वे बार-बार कौशल्या से कहती हैं कि चौदह वर्ष के बाद राम अवश्य सकुशल वापस लौटेंगे और फिर एक बार हमें सुख प्राप्त होगा।

राम-वनवास का प्रसंग जिस प्रकार रामायण में दरशाया गया है, उसमें राजा दशरथ शोक और व्यथा के भार से दब गए हैं, संपूर्ण संयति खो बैठे हैं और किसी भी प्रकार से कोई भी निर्णय ले सकें, ऐसा मानसिक धैर्य उनमें नहीं रहा। रानी कौशल्या भी कैकेयी के प्रति रोष से व्यथित हैं, राम-विरह की कल्पना से पीड़ित हैं। कैकेयी स्वार्थ और हठाग्रह से दूषित होकर सार-असार का भान खो बैठी हैं। इस सबके बीच सुमित्रा ही एक ऐसी पात्र हैं कि जिसे स्वार्थ तो क्या, व्यथा भी नहीं छू सकी। पुत्र लक्ष्मण को वह एक बार भी वन में न जाने के लिए नहीं कहतीं। लक्ष्मण का यह निर्णय स्वैच्छिक है, फिर भी सुमित्रा पुत्र को वन जाने से रोकती नहीं। इतना ही नहीं, उन्हें मंगल प्रार्थना के साथ विदा भी करती हैं। इस विदाई का वर्णन भी पाँच-छह से अधिक श्लोकों में नहीं है।

दशरथ की मृत्यु तथा अंत्येष्टि के प्रसंग में सुमित्रा शोकमग्न अवश्य हुई हैं। पति की देह का स्पर्श करके वे मूर्च्छित भी हो गई हैं। परंतु इसके सिवाय उनकी अस्वस्थता की कोई बात कहीं प्रकट नहीं होती। चित्रकूट में राम-भरत मिलन के समय सुमित्रा साथ में ही हैं और चौदह वर्ष के वनवास के बाद अयोध्या वापस लौटे राम का सत्कार करने वे नंदीग्राम में भी उपस्थित हुई हैं। राम के राज्यारोहण के बाद उन्होंने दीघार्यु व्यतीत की हो, ऐसा लगता है और पुत्र शत्रुघ्न जब राम की आज्ञा से लवणासुर का वध करते हैं और मधुरापुरी नगरी के सिंहासन पर राजा के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं तो सुमित्रा पुत्र को आशीर्वाद देती हैं। इसके सिवाय अन्यत्र उन्होंने कहीं कोई सक्रियता नहीं दिखाई है। कालक्रम में वे मृत्यु को प्राप्त हुईं, यही हलका सा उल्लेख उत्तरकांड में मिलता है।

सुमित्रा मझली रानी हैं। उनका जीवन-मार्ग भी उनको इस स्थान पर मानो न्यायी ठहराता हो, इस तरह मध्यम ही रहा है। वह कहीं भी, किसी के प्रति रोष या आक्षेप प्रकट नहीं करतीं। कहीं किसी प्रसंग में हर्ष के अतिरेक में नहीं आती हैं। इसी प्रकार शोक या व्यथा के प्रसंग में भी वे संयम नहीं खोती हैं।

❑

—७—

कैकेयी

मनुष्य का परिचय देते हुए किसी गुजराती कवि ने उसे 'अजब आ तेज-अंधारनुं पूतलुं' बताया है। मनुष्य में यह तेज (प्रकाश) और अंधकार का जो मिश्रण समाहित है, उसका सबसे सुंदर और अद्‌भुत विनियोग रामायण में कैकेयी के पात्र द्‌वारा हुआ है। महाभारत में लगभग सभी पात्र प्रकाश और अंधकार के बीच प्रदर्शित हुए हैं, परंतु रामायण के लगभग सभी पात्र अपने निश्चित किए हुए धर्म के प्रति एक समान सातत्य का पालन करते रहे हैं। मानव-स्वभाव की गहराई में कहाँ और क्या-क्या दबा पड़ा है और वह कब और किस प्रकार प्रकट हो जाता है—इसकी भविष्यवाणी करना तो असंभव ही है, पर इसके विषय में कोई निश्चित मापदंड स्थापित करना भी असंभव है। कैकेयी के पात्रालेखन द्‌वारा महर्षि वाल्मीकि ने मानव-स्वभाव को बहुत ही सुचारू रूप से व्यक्त किया है।

यौवन, सौंदर्य आदि दैहिक संपत्ति हों, बुद्‌धि-प्रतिभा, वाक्पटुता आदि आकर्षक लक्षण हों, साहस और शौर्य जैसे अप्रतिम गुण हों, पर इतने ढेर सारे सकारात्मक तत्त्व होने के बाद भी यदि अपार आकांक्षा हो और सारासार का विवेक भुला दिया गया हो तो एक व्यक्ति समग्र समाज को धूल-धूसरित कर सकता है, इसका उत्कृष्ट उदाहरण कैकेयी प्रस्तुत करती हैं। कैकय नरेश अश्वपति की यह पुत्री अयोध्या नरेश दशरथ की कनिष्ठ पत्नी है। राजा दशरथ की साढ़े तीन सौ में से मुख्यत: जिन तीन रानियों के नाम रामायण में उल्लिखित हैं, उनमें कैकेयी का स्थान क्रम की दृष्टि से तीसरा है, पर पति की यह सबसे प्रिय पत्नी है, ऐसा स्पष्ट उल्लेख कवि ने बार-बार किया है। अनेक सद्‌गुणोंवाली यह स्त्री जीवन के एक दुर्बल क्षण में आसुरी आकांक्षा की चपेट में इस प्रकार आ गई है कि उसके व्यक्तित्व के समस्त उजले पक्ष पूर्णत: दब गए और उसके जो भी निषेधात्मक गुण थे, उनका प्राधान्य व्याप्त हो गया। फलस्वरूप तत्कालीन अयोध्या में एकमात्र मंथरा को छोड़कर उसका कोई समर्थक नहीं मिलता, उलटे वह दशरथ से लेकर वसिष्ठ तक सभी के तिरस्कार और रोष का पात्र बन गई है। आज हजारों वर्ष बाद भी इन नकारात्मक लक्षणों के कारण वह एक ऐसे नाम से जानी जाती रही है कि समाज में कोई भी माता-पिता अपनी पुत्री का नाम कैकेयी कभी नहीं रखते।

कैकेयी के विषय में कोई विचार करते समय जिस बात पर शायद ही कभी किसी ने ध्यान रखा हो, ऐसी एक घटना बहुत अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकांड में सर्ग १०७/३ में निम्न श्लोक है —

पुरा भ्रात: पिता न: स मातरं ते समुद्‌वहन्।
मातामहे समाश्रोषीद् राज्यशुल्कमनुत्तमम्॥

यह श्लोक 'ओरिएंटल इंस्टीट्यूट' वडोदरा द्‌वारा तैयार किए गए रामायण के अधिकृत पाठ में भी सर्ग ९९/३ के तीसरे श्लोक के रूप में स्थान पाया है, इसलिए इसे क्षेपक या प्रक्षिप्त मानकर खारिज नहीं किया जा सकता। इस श्लोक के अनुसार, भरत चित्रकूट में जब राम से मिलते हैं तो राम कहते हैं—कि हे भाई! पिताजी ने जब माता कैकेयी के साथ विवाह किया तो उन्होंने उस समय तुम्हारे मातामह की यह शर्त स्वीकार की थी कि कैकेयी द्‌वारा उत्पन्न हुए पुत्र को ही राजा बनाया जाएगा।

इस श्लोक की पृष्ठभूमि में देखें तो दशरथ ने राम का राज्याभिषेक करने में जो जल्दबाजी की है, उसका रहस्य जाना जा सकता है। इतना ही नहीं, भरत को सिंहासन तथा राम को वनवास—ऐसा वचन माँगकर अप्रिय होने की कैकेयी को कोई आवश्यकता ही नहीं थी, ऐसा लगता है। विवाह के पूर्व ही राजा ऐसा वचन दे चुके थे। कैकेयी ने

पति से इस वचन को पूरा करने का आग्रह भी नहीं किया। उसने जो वरदान माँगे हैं, वे वरदान तो देवासुर-संग्राम के समय उसने पति की जो सहायता की थी, उसके बदले में जो पारितोषिक उसे प्राप्त हुआ था, उसकी ही बात की है। देवासुर-संग्राम में राजा दशरथ देवों के पक्ष में लड़ रहे थे, उस समय उनके रथ का चक्र निकल गया। तब सारथि के रूप में कैकेयी ने चक्र की धुरी के बीच अपने हाथ का टेक देकर राजा को कठिन परिस्थिति से उबार लिया था। युद्ध के अंत में राजा ने जब यह जाना तो उन्होंने पत्नी कैकेयी को दो इच्छित वरदान माँग लेने के लिए कहा था। कैकेयी ने उस समय ये वरदान नहीं माँगे थे, पर यथासमय वह माँग लेगी—ऐसा कहकर इन्हें मुल्तवी रखा था। मुल्तवी रखे ये वरदान उसने राम के राज्याभिषेक के समय माँग लिये थे, यह वास्तविकता सर्वविदित है।

यहाँ देवासुर-संग्राम की इस घटना को अन्य प्रकार से भी परख लेना चाहिए। कैकेयी युद्धकला में भी निपुण और तीक्ष्ण बुद्धिवाली थी, इसका यह प्रमाण है। पति के साथ युद्ध के क्षेत्र में ऐसा साहस और ऐसी बुद्धि-प्रतिभा दिखाई हो, ऐसी किसी स्त्री का दूसरा उदाहरण पौराणिक कथाओं में कहीं नहीं मिलता, यह बात ध्यान देने योग्य है।

तथापि कैकेयी अभिमानी, क्रोधी तथा विवेकभ्रष्ट तो अवश्य ही रही होगी। इसके एक से अधिक प्रमाण हमें रामायण में मिलते हैं। राम-वनवास का वचन पति से लेने के बाद राम को उसने अपने भवन में यह राजाज्ञा सुनाने के लिए बुलवाया। राज्यारोहण की पूर्व तैयारी कर चुके राम जब माता कैकेयी के कक्ष में पिता दशरथ को उदास, उद्विग्न एवं भग्न मनोदशा में पड़ा देखते हैं तो माता कैकेयी से पिता की ऐसी अवदशा के संभावित कारण पूछते हैं। इन संभावित कारणों में अन्य कारणों के साथ राम एक ऐसी शंका भी व्यक्त करते हैं—''हे माता! आपने कहीं अभिमान अथवा क्रोध के कारण पिताजी को ऐसी कोई कठोर बात तो नहीं कह डाली न कि जिससे वे दु:खी हो गए हों?'' (अयोध्याकांड-१७/१८)। इसमें राम भी कैकेयी की प्रकृति में स्थित इन दोनों अंशों—अभिमान और क्रोध से परिचित थे, ऐसा संकेत मिलता है। इसके सिवा राजा के देहांत के बाद भरत को लिवा लाने के लिए कैकय गए दूतों से भरत अयोध्या का जो कुशल-क्षेम पूछते हैं, उसमें अपनी माता कैकेयी के समाचार इस प्रकार पूछते हैं—

आत्मकामा सदा चापि क्रोधना प्राज्ञमनिनी।
अरोगा चापि मे माता कैकेयी किमुवाच ह॥

—जो सदैव अपना हित (स्वार्थ) ही सिद्ध करना चाहती है तथा स्वयं को बहुत बुद्धिशाली समझती है—ऐसी उग्र स्वभाववाली तथा क्रोधी मेरी माता कैकेयी कुशल से तो हैं न? उसने कोई संदेशा दिया है?

इसमें भरत अपनी माता कैकेयी के लिए जिन विशेषणों का प्रयोग करते हैं, उसमें रामवनवास का वरदान माँगकर कैकेयी अप्रिय बन गई, यह पहले की बात प्रतिबिंबित होती है। ये दोनों दृष्टांत कैकेयी के पात्र को समझने के लिए उपयोगी हैं। कैकेयी राजा से जो दो वरदान माँगती है, उसके बाद उसके व्यवहार में जो निष्ठुरता तथा कटुता है, वह कोई एकाएक हुआ परिवर्तन नहीं है, बल्कि यह उसका प्रकृति-धर्म ही था, ऐसा कहने में तनिक भी जोखिम नहीं है।

पुत्रेष्टि-यज्ञ के अंत में राजा को यज्ञ-देवता से खीर का जो प्रसाद प्राप्त हुआ था, उसका वितरण करने में भी राजा ने कैकेयी के साथ अन्याय किया था, ऐसा अनुभव हुए बिना नहीं रहता। खीर का यह प्रसाद या तो पूरा का पूरा बड़ी रानी कौशल्या को दे देना चाहिए था, क्योंकि यज्ञ के लिए पति के साथ मात्र कौशल्या ही दीक्षित हुई थीं, सुमित्रा या कैकेयी दीक्षित नहीं हुई थीं। फिर भी, यदि यह प्रसाद तीनों रानियों में बाँटना ही था तो कैकेयी का अधिकार कौशल्या के जितना न भी मानें तो सुमित्रा के जितना तो मानना ही चाहिए था। कैकेयी के पुत्र के बदले इक्ष्वाकु-परंपरा के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र को ही सिंहासन सौंपने की राजा की मंशा में, विवाह के समय में कैकेयी और उसके पिता अश्वपति को दिए वचन से विचलित होने का ही संकेत मिलता है। अयोध्या के प्रतापी इक्ष्वाकु-कुल में

इसके बाद ईर्ष्या, द्वेष तथा असंतोष और रोष के जो चित्र खड़े हुए, उनका मूल कदाचित् (शायद) यहीं कहीं है।

राम के राज्यारोहण के समाचार जब पूरे नगर में फैल गए हैं और समस्त नगरवासी उत्सव मना रहे हैं, उस समय तक कैकेयी से ये समाचार गोपित रहे हैं। महल के झरोखे में गई मंथरा ने यह समाचार जानकर नीचे आकर कैकेयी को इससे अवगत कराया। मंथरा को राम के प्रति किसी भी प्रकार का द्वेष या अनबन हो, ऐसा कोई कारण रामायण में कहीं नहीं मिलता। राम के राज्यारोहण का समाचार जानकर मंथरा क्यों द्वेषभाव से पीड़ित हुई? इतना ही नहीं, कैकेयी को उसने क्यों इस हद तक सफलतापूर्वक उकसाया, इसका रहस्य समझ में नहीं आता।

कैकेयी के मन में भी राम के लिए पुत्र भरत जैसा ही भाव रहा है। मंथरा द्वारा दिए समाचार को सुनकर प्रसन्नचित्त से वह मंथरा को उपहार भी देने लगती है। लेकिन मंथरा इस उपहार को अस्वीकार कर कैकेयी के जिस प्रकार कान भरती है, वह आश्चर्यजनक है। मंथरा का कोई भूतकाल कहीं नहीं मिलता। इतना ही नहीं, एक स्थान पर तो ऐसी भी स्पष्टता है कि उसका जन्म कहाँ हुआ था, उसके माता-पिता कौन थे, यह कोई नहीं जानता था (अयोध्याकांड-७/१)। कैकेयी इस हद तक यह समाचार जानकर प्रसन्न हुई है कि वह बोल उठती है—''हे मंथरा! राम के राज्याभिषेक के इस समाचार से अधिक प्रिय और अमृत जैसा दूसरा कोई मधुर वचन हो ही नहीं सकता।'' प्रसन्नता और संतोष के इस क्षण में मंथरा ने मात्र राम के विरुद्ध ही नहीं, बल्कि राजा दशरथ के विरुद्ध भी हीन और कड़वे वचन कहे हैं। उसने कहा है कि राजा भले मीठी-मीठी बातें करते हों, पर उनके हृदय के भाव क्रूर और अशुद्ध हैं। इतना ही नहीं, भरत को ननिहाल भेजकर उनकी अनुपस्थिति में ही राम का राज्याभिषेक कर लेने का राजा का इरादा अवश्य मलिन है, ऐसी आशंका मंथरा व्यक्त करती है। (स्मरण रहे कि दशरथ के मन में ऐसा कोई इरादा रहा हो, इसकी पूरी-पूरी संभावना है। ऐसी संभावना अयोध्याकांड-सर्ग ४/२५ में प्रकट हुई है। यहाँ राजा दशरथ ने राम से कहा है—''जब तक भरत उपस्थित नहीं और मामा के यहाँ है, उसी बीच तुम्हारा राज्याभिषेक हो जाए—यही मुझे उचित लगता है।'') इसका अर्थ यह हुआ कि मंथरा राजनीति के दाँव-पेंच और उसकी मलिनता को अन्य किसी की तुलना में अधिक तीक्ष्णता से भाँप सकती है।

यहाँ कैकेयी के अंदर के सकारात्मक तत्त्वों और मंथरा के अंतर में बसे नकारात्मक तत्त्वों के बीच कुछ समय के लिए संघर्ष होता दिखाई देता है। सकारात्मक तत्त्वों के लिए नकारात्मक तत्त्वों पर विजय प्राप्त करना अधिक कठिन होता है। मनुष्य में ये दोनों तत्त्व एक साथ ही रहते हैं, परंतु विधायक-तत्त्वों को बलशाली बनाया जा सके, इसकी अपेक्षा निषेधात्मक-तत्त्वों को बलवान बनाना अधिक सुगम होता है। कैकेयी के मामले में ठीक यही हुआ है। मंथरा निषेधात्मक-तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करती है और कैकेयी में इस क्षण हालाँकि विधेयात्मक-तत्त्व धरातल पर प्रकट अवश्य होते हैं; परंतु ये तत्त्व मंथरा के निषेधात्मक-तत्त्वों को पराजित करें, उससे पहले ही मंथरा के निषेधात्मक तत्त्वों ने कैकेयी के विधेयात्मक-तत्त्वों को पराजित कर डाला है। मानव-हृदय के इस सनातन संघर्ष का महाकवि ने अत्यंत सूक्ष्मतापूर्ण वर्णन किया है। शर्त बस इतनी ही है कि इस सूक्ष्मता को हमें पहचानना चाहिए।

मनुष्य का मन एक बार बदल जाने के बाद उसके परिवेश में कैसा आमूल-चूल परिवर्तन आ जाता है, यह भी मानव-प्रकृति की एक विचित्रता ही है। मंथरा कुब्जा थी। कैकेयी ने उसे कुब्जा के रूप में बार-बार संबोधित भी किया है। कुब्जा का अर्थ कूबड़ी स्त्री होता है। भागवत की कुब्जा त्रिवक्रा थी, ऐसा भी उल्लेख है। इस प्रकार 'कुब्जा' कुरूपता से जुड़ा शब्द रहा है। कैकेयी के मन में मंथरा की बात जैसे ही घर कर गई और पुत्र भरत के राज्याभिषेक का सुनहरा स्वप्न उसकी महत्त्वाकांक्षा के रथ पर सवार हो गया, त्रिवक्रा कुब्जा मंथरा भी कैकेयी की दृष्टि में अत्यंत सुंदर लगने लगी। अभी कुछ ही क्षण पहले जिस स्त्री में कोई सौंदर्य नहीं दिखाई दे रहा था, उस देह में कैकेयी को अब पारावार सौंदर्य दिखाई देने लगा। हम जिसे अपना हितैषी मानते होते हैं, उसमें हमें अनायास ही

अनेक गुण दिखाई देने लगते हैं। इसके विपरीत, जिसके प्रति हमारे मन में घृणा या रोष होता है, उसमें असंख्य अवगुण और कुरूपता ही दिखाई देने लगती है। इस मनोविज्ञान का प्रभाव अनायास दिखाई दे, ऐसा पक्ष भी है। हालाँकि उस समय कैकेयी ने मंथरा की देह का जैसा मोहक वर्णन किया है, वह हर्ष के आवेग में आकर संतुलन खोए व्यक्ति का मूल्यांकन हो—ऐसा लगे बिना नहीं रहता। यदि ऐसा हो तो यह भी मनोविज्ञान का एक पहलू कहा जा सकता है।

इसके बाद कैकेयी का जो व्यक्तित्व उभरता है, वह निष्ठुर तथा घातकी हो, ऐसा लगे बिना नहीं रहता। कोपभवन में सोई इस तरुण पत्नी को मनाने के लिए वृद्ध राजा जिस तरह चापलूसी (खुशामद) करता है, उससे पत्नी तो क्या किसी त्राहित व्यक्ति में भी दया उपजे—ऐसी है। राजा समाधान के एक प्रस्ताव के रूप में भरत का राज्याभिषेक स्वीकार करते हैं और बदले में कैकेयी राम के वनवास की माँग छोड़ दे—ऐसी प्रार्थना करते हैं। कैकेयी राजा की इस प्रार्थना को भी क्रूरतापूर्वक अस्वीकार कर देती है। राम को चौदह वर्ष का वनवास अर्थात् अयोध्या की प्रजा की आँखों से दूर करने का विचार मंथरा ने ही कैकेयी को दिया था। राम इस समय अयोध्या में लोकप्रिय हैं, परंतु यदि राम की अनुपस्थिति में भरत प्रजा का स्नेह प्राप्त कर लेंगे तो लोग राम को भूल जाएँगे और भरत का शासन स्थिर हो जाएगा। यह दीर्घदृष्टि मंथरा की है, कैकेयी के गले में यह हलवे की तरह उतर गई है। राजा जब राम के वनवास की माँग छोड़ देने के लिए कैकेयी से विनती करते हैं तो वह उस समय अपनी गुरु (मंथरा) द्वारा दी गई मंत्रणा के अनुसार उनकी माँग को अस्वीकार कर देती है।

राम जब दूसरे दिन सुबह कैकेयी के आवास में पिता से मिलने जाते हैं तो राजा की वनगमन की आज्ञा भी कैकेयी ने ही राम को कहकर सुनाई है। दशरथ ने एक बार भी वनवास के शब्द राम के समक्ष नहीं निकाले हैं। राम को न केवल वनवास करना है, बल्कि यह वनवास दंडकारण्य में ही करना है, कैकेयी ने ऐसा स्पष्ट निर्देश भी इस माँग में किया है (अयोध्याकांड-११/२६)। कैकेयी की निष्ठुरता का उत्तम उदाहरण उसके द्वारा स्वयं सीता के लिए लाए गए वल्कल वस्त्रों की घटना में दिखाई देता है। सीता को ये वल्कल वस्त्र धारण करना नहीं आता, इसलिए सभी परिवारजनों की उपस्थिति में स्वयं राम उन्हें ये वस्त्र पहनाते हैं। यह दृश्य देखने के बाद राजा दशरथ के सारथि सुमंत्र भी अपने स्थान की मर्यादा लाँघकर कैकेयी को धिक्कारते हैं।

यहाँ सुमंत्र ने भूतकाल की एक घटना का उल्लेख किया है, जो कैकेयी के पारिवारिक संस्कार को समझने में अत्यंत उपयोगी है। अयोध्याकांड-३५/१९-२८ में सुमंत्र कहते हैं कि पुत्र सदैव पिता की प्रकृति पर उतरता है और पुत्री हमेशा माता के संस्कारों को ही ग्रहण करती है, इसे कैकेयी ने सही सिद्ध किया है। ऐसा कहकर सुमंत्र कैकेयी के पिता अश्वपति और उनकी पत्नी के बीच के एक प्रसंग की बात करते हैं।

राजा अश्वपति ने एक ऋषि की कृपा से ऐसी सिद्धि प्राप्त की थी कि वे तमाम पशु-पक्षियों की भाषा समझ सकते थे। इसमें शर्त बस इतनी थी कि उन्हें यह बात किसी को बतानी नहीं थी। एक बार रात में पत्नी के साथ शयनकक्ष में सोए अश्वपति ने उद्यान के वृक्ष पर बोलते एक पक्षी की बात सुनी और उसे सुनते ही उन्हें हँसी आ गई। कैकेयी की माता पति के साथ ही पलंग पर सोई थी। पति को हँसता देखकर उसने जिद ठान ली कि राजा क्यों हँसे, यह उन्हें बताना चाहिए। यदि वे यह नहीं बताएँगे तो रानी को यही मानना पड़ेगा कि पति को हँसी आ जाए, ऐसा कोई हास्यास्पद आचरण उसने किया है। राजा ऋषि के वचन से बँधा था और यदि वह अपना वचन भंग करके पत्नी को अपने मिले वरदान की बात बता दे तो उसकी मृत्यु होगी—ऐसी शर्त भी उसके साथ जुड़ी थी। उसने पत्नी से विनती करके कहा कि यदि वह इस हँसने का सही कारण बता देगा तो उसकी मृत्यु हो जाएगी। अपने संभावित वैधव्य की बात जानने के बाद भी कैकेयी की माता ने हठ नहीं छोड़ा और कहा कि चाहे जो

परिणाम आए, आपको मुझे बताना ही पड़ेगा। पत्नी के इस हठ से उलझन में पड़े राजा अश्वपति ने दूसरे दिन वरदान देनेवाले ऋषि से भेंट की और उनसे इस उलझन का उपाय पूछा। ऋषि ने निर्विवाद रूप से राजा से कहा, ''हे राजा! जो पत्नी तुम्हारी मृत्यु के भोग पर भी अपना हठ पूरा करना चाहे, उसका तुम्हें त्याग ही कर देना चाहिए।'' अश्वपति ने यह सलाह स्वीकार की और उसके बाद उसने पत्नी को त्याग दिया। इतना कहने के बाद सुमंत्र ने कैकेयी की प्रकृति में उसकी माता का हठ किस सीमा तक उतर आया है, यह बात विस्तारपूर्वक कही है। इसके बावजूद कैकेयी ने अपनी हठ नहीं छोड़ी। इक्ष्वाकुवंशियों के लिए जिन्हें प्रथम पुरुष कहा जा सके, ऐसे कुलगुरु वसिष्ठ ने भी उसे अतिशय कटुवचन कहकर दुत्कारा, इसके बाद भी कैकेयी अपनी माँग पर अडिग रही।

इसके बाद राजा का अवसान हुआ तथा भरत का अयोध्या में पुनरागमन हुआ, तब कैकेयी के जीवन का सबसे अधिक करुण पहलू शुरू हुआ है। वाल्मीकि रामायण में कैकेयी का जो चित्र हमें मिलता है, उसके तीन स्पष्ट आयाम किए जा सकते हैं। उसका सबसे उत्कृष्ट पहलू राम के राज्याभिषेक का समाचार जब पहली बार मंथरा ने उसे दिया, उस समय व्यक्त हुआ है। प्रसन्नचित्त, उदार, समभावी तथा प्रेमालु माता के रूप में उसका उस समय व्यवहार रहा है। इसके बाद भरत को राज्य और राम को वनवास, उसकी इस सत्ताकांक्षा के साथ उसका सबसे निकृष्ट पहलू प्रकट हुआ है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि ये शिखर औ़रतलहटी जैसे लगनेवाले दोनों पहलू नितांत मानवीय हैं और ऊपरी तौर पर एक ही साथ प्रकट हुए हैं। महाकवि जैसे भावी पीढ़ियों को सुझा रहे हों : हे मनुष्यो! ये दोनों पक्ष तुम्हारे अंतस में एक साथ ही बसे हैं। इनके विषय में सावधान रहना! देखना कहीं संतुलन न खो बैठो! और यदि संतुलन खो बैठे तो—

तो कैकेयी का तीसरा पहलू महर्षि ने तत्काल दरशाया है। इस तीसरे दर्शन में कैकेयी सबसे अधिक दयनीय पात्र बन गई है। ननिहाल से वापस लौटे पुत्र भरत ने माता कैकेयी का जो तिरस्कार किया है और उसे जो कड़वे वचन सुनाए हैं, वह जगत् की कोई संस्कारी माता किसी पुत्र से कल्पना न कर सके, ऐसे हैं। कुलकलंकिनी, पापिनी, दुष्टा, क्रूरहृदया, दुराचारिणी, पतिघातिनी—इतने-इतने संबोधन भरत ने माता के लिए प्रयुक्त किए हैं। इतना ही नहीं, ''मेरे पिता ने तुझे पत्नी के रूप में स्वीकार कर जलते अंगारे को ही स्वीकारा था।'' तथा ''अब तो जलती आग में कूदकर अथवा गलफाँस लगाकर मर जा, यही एकमात्र मार्ग है''—ऐसे कुपित वचन कहे हैं। पुत्र के इस व्यवहार की तनिक भी अपेक्षा न हो, यह सहज है। कैकेयी उस क्षण के बाद स्तंभित हो गई हो, इस प्रकार लगभग शून्यमनस्क हो गई है। इसके बाद शायद ही कहीं वह बोली है। चित्रकूट जाने के मार्ग में महर्षि भरद्वाज के आश्रम में भरत जब तीनों माताओं का परिचय देते हैं तो उस समय रोषपूर्वक सबके समक्ष बोलते हैं—''यह क्रोधी स्वभाव की, अशिक्षित, बुद्धिशाली, गर्विष्ठ, स्वयं को अधिक सुंदर और सौभाग्यवती समझती, राज्यलोभी और देखने में आर्य, पर संस्कार में पूरी अनार्य, मेरी माता कैकेयी है।'' कैकेयी के जीवन का यह सबसे अधिक करुण और दयनीय क्षण मानना चाहिए।

राम के पुनरागमन के बाद उसने चुपचाप, शांतिपूर्वक दीर्घायु भोगी है और कालक्रम में मृत्यु को प्राप्त हुई है। उसका जीवन मानव घटना के ऐसे क्रम की ओर संकेत करता है कि मनुष्य को अपने चित्त के संक्रमणों के विषय में सतत जाग्रत् रहना चाहिए और निषेधात्मक तत्त्व कहीं हावी न हो जाएँ, इसकी सतर्कता हमेशा रखनी चाहिए। अमर्यादित आकांक्षा गुणवान-से-गुणवान मनुष्य को भी पतन के गर्त में धकेल सकती है।

❑

—८—

रावण

रावण के पूर्वजों की जो वंशावली हमें हस्तगत होती है, तदनुसार प्रजापिता ब्रह्मा के मानसपुत्रों में पुलस्त्य ऋषि का समावेश है। ये पुलस्त्य प्रजापतियों की हारमाला में चौथे प्रजापति माने गए हैं। पुलस्त्य ऋषि जहाँ तपश्चर्या कर रहे थे, वहाँ कुछ राजकन्याएँ विहारार्थ आकर उनकी तपश्चर्या में विक्षेप कर रही थीं। ऋषि ने इन राजकन्याओं से रोषपूर्वक कहा, ''हे कन्याओ, आज के बाद आपमें से कोई यहाँ पुन: न आए। साथ ही यह भी कहा कि यदि मेरी आज्ञा का अनादर करके कोई कन्या यहाँ आएगी तो वह तत्काल गर्भवती हो जाएगी।'' राजा तृणबिंदु की कन्या इस आज्ञा की अवगणना करके अकेली वहाँ आई और तत्काल गर्भवती हो गई। इसके बाद महर्षि पुलस्त्य ने उस कन्या को पत्नी के रूप में स्वीकार किया और उससे जो पुत्र उत्पन्न हुआ, वह 'विश्रवा' कहलाया। इस विश्रवा ने दो स्त्रियों के साथ विवाह किया। पहली स्त्री भरद्वाज ऋषि की पुत्री देववर्णिनी थी। उससे जो पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका नाम कुबेर रखा गया।

राक्षसराज सुमाली की पुत्री केकसी विश्रवा की दूसरी पत्नी थी। केकसी से उत्पन्न संतानें थीं—रावण, कुंभकर्ण, विभीषण और शूर्पणखा। इस वंश की इन नामावलि में रसप्रद बात यह है कि प्रथम पूर्वज ब्रह्मा सभी जातक योनियों से परे हैं। पुलस्त्य और विश्रवा की गणना मनुष्य-लोक के महर्षियों में होती है। विश्रवा की संतानों में कुबेर को देवों के कोषाध्यक्ष के रूप में स्थान प्राप्त हुआ और उनकी गणना यक्षयोनि में होती है। यक्षयोनि को मनुष्य और देव के बीच स्थान प्राप्त है।

विश्रवा की अन्य संतानों में विभीषण की गणना राक्षस कुल में होने के बावजूद उन्हें मनुष्यों में भी ऊँचा माना जाए, ऐसा ऊँचा स्थान मिला है। अन्य संतानें—रावण, कुंभकर्ण तथा शूर्पणखा, ये तीनों राक्षस योनि में ही स्थान पाए हैं। इन तीनों में भी स्पष्ट भेद देखा जा सकता है। रावण की गणना राक्षसकुल में होने के बावजूद वह भगवान् शंकर का परम भक्त है। उसके महल और राज्य में सतत यज्ञवेदियाँ प्रज्वलित होती हैं और वेदों का मंत्रोच्चार होता रहा है। इतना ही नहीं, उसकी गणना विद्वान् और वेदज्ञ के रूप में भी हुई है। इसके विपरीत कुंभकर्ण और शूर्पणखा, हम जिसे राक्षसकुल की पारंपरिक समझ कहते हैं, उसी रूप में रामायण में उभरे हैं।

इसका अर्थ यह है कि देव, मनुष्य या राक्षस ये कोई जन्मजात वर्ग नहीं थे, बल्कि श्रीमद्भागवत गीता में श्रीकृष्ण ने जिसके लिए 'गुणकर्मविभागयो:' कहा है, उसके अनुसार प्रत्येक जातक अपने संस्कारों तथा विशेष-गुण के कारण ही निश्चित वर्ग में स्थान पाता रहा होगा। विश्रवा का ही पुत्र कुबेर देवों का कोषाध्यक्ष होने के बावजूद देव नहीं, बल्कि यक्ष के रूप में ही स्थान पाए और शिवभक्त होने के बावजूद रावण मात्र राक्षसराज ही बना रहा, यह घटना गौर करने लायक है।

उत्तरकांड की कथा ऐसा कहती है कि लंका का राज्य विश्रवा की दूसरी पत्नी केकसी के पिता सुमाली और उसके साथी भोग रहे थे, पर देवों के साथ के संग्राम में विष्णु ने राक्षसों पर अपना प्रभाव जमाया। राक्षण यह प्रभाव झेल नहीं सके और जीवन बचाने के लिए लंका छोड़कर रसातल में चले गए। इसके बाद महर्षि विश्रवा ने अपने पुत्र कुबेर को लंका में स्थायी होने का निर्देश दिया। बार-बार सोने की कथित लंका कुबेर ने ही समृद्ध की थी तथा देवों से कुबेर को पुष्पक-विमान की प्राप्ति हुई थी। इस कालावधि के दौरान रसातल में भागकर गए राक्षसराज सुमाली की पुत्री केकसी विवाह की आयु बिता चुकी थी, किंतु पिता सुमाली उसके लिए योग्य वर नहीं खोज सका

था। एक बार पुत्री के साथ वह उसके वर की खोज में पृथ्वी पर भ्रमण कर रहा था। उस समय पुष्पक विमान में यात्रा कर रहे तेजस्वी और समृद्ध कुबेर को उसने देखा। अपनी पुत्री को भी कुबेर जैसे ही वैभवशाली तथा प्रतापी पुत्र प्राप्त हों, इसके लिए कुबेर के पिता महर्षि विश्रवा को ही पति के रूप में स्वीकार करने का सुझाव पिता ने पुत्री को दिया।

संध्याकाल में अग्निहोत्र कर रहे ऋषि विश्रवा के पास केकसी पहुँच गई और पत्नी के रूप में स्वीकार करने की प्रार्थना की। विश्रवा ने केकसी की इस माँग को स्वीकार तो किया, परंतु केकसी की यह इच्छा अनुचित समय पर व्यक्त होने के कारण उसकी संतानें दैवी नहीं, बल्कि आसुरी गुणों से व्याप्त होंगी, ऐसी वाणी कही। केकसी ने ऋषि के इस विधान पर विलाप किया तो विश्रवा ने अपनी इस वाणी में एक परिवर्तन किया कि केकसी का सबसे कनिष्ठ पुत्र धर्मतत्त्व का ज्ञाता होगा और चरित्रवान् होगा। इस प्रकार विश्रवा और केकसी के सहजीवन का परिणाम —रावण, कुंभकर्ण, शूर्पणखा और विभीषण थे।

तरुणावस्था में रावण ने शिवभक्ति का मार्ग अपनाया। उसने उग्र तपश्चर्या की। भगवान् शिव प्रसन्न हुए तो रावण ने अमरत्व प्राप्त करने और मृत्यु कभी उसका स्पर्श न करे, ऐसी राक्षसी माँग की। दीर्घायु की इच्छा हर जातक को होती है। मृत्यु का डर भी प्रत्येक जीव को जन्म के साथ ही रहता है। फिर भी धर्मतत्त्व के ज्ञाता रावण के पूर्वज विश्रवा या पुलस्त्य कभी अपने पितामह या पिता के पास जाकर अमरत्व की माँग नहीं करते। पिता ब्रह्मा ऐसा वरदान देने के लिए सक्षम होने के बावजूद धर्मतत्त्व का ज्ञाता मृत्यु से मुक्ति नहीं माँगता, बल्कि मृत्यु के रहस्य का ज्ञान माँगता है। वेद के ऋषियों ने कभी भी मृत्यु से मुक्ति नहीं माँगी। मृत्यु जीवनधर्म है और इस धर्म का अनुशीलन करना ही परमतत्त्व का आदेश है। इससे विपरीत इच्छा करना राक्षसी तत्त्व है। रावण ने यह राक्षसी इच्छा प्रचंड तपोबल के अंत में व्यक्त की। भगवान् शिव ने उसे अमरत्व नहीं दिया, क्योंकि मृत्यु से मुक्ति प्रकृतिधर्म के विरुद्ध है और प्रकृतिधर्म के विरुद्ध आचरण कोई नहीं कर सकता, ऐसा कहा।

इसके बाद रावण ने अपनी इच्छा भी पूरी हो और प्रकृतिधर्म की बाधा भी आड़े न आए, इस हेतु से युक्ति-युक्त वरदान माँगा कि मेरी मृत्यु देव, यक्ष, किन्नर, दैत्य, राक्षस, नाग, गंधर्व या गरुड़ जैसी किसी भी योनि से न हो सके। मनुष्य आदि प्राणियों की गणना तो रावण को अपने सामर्थ्य के कारण बहुत क्षुद्र लगती थी। उससे तो उसे कोई भय हो ही नहीं सकता, ऐसा वह मानता था। शिवजी ने यह वरदान दिया और इस प्रकार रावण मनुष्य को छोड़कर किसी भी योनि के लिए अवध्य हो गया।

रावण के पात्र का पृथक्करण करें, इससे पहले दो बातें समझनी जरूरी हैं। रावण के दस सिर और बीस हाथ थे, ऐसी जनमानस में भ्रांति रही है। यह भ्रांति मुख्यत: कथाकारों ने पैदा की है। वैसे वाल्मीकि रामायण में भी, रावण ने शिवजी की तपस्या की थी तो तप के प्रत्येक आवर्तन के अंत में अपना एक-एक मस्तक काटकर शिव को अर्पित किया था और इस प्रकार नौ मस्तक अर्पित करने के बाद रावण जब अपना दसवाँ मस्तक काटकर चढ़ाने के लिए उद्यत हुआ तो शिवजी प्रसन्न हुए, ऐसी कथा जरूर है। इतना ही नहीं, जब यह बालक माता केकसी की कोख से पैदा हुआ तो उसके दस ग्रीवाएँ होने के कारण पिता विश्रवा ने उसका नामकरण 'दशग्रीव' किया था, ऐसा उल्लेख भी उत्तरकांड में है।

इस प्रकार रावण के दस मस्तक और बीस भुजाएँ थीं—ऐसा अत्यंत विचित्र दृश्य खड़ा हुआ है। इसके बावजूद अन्यत्र अधिकांश स्थानों पर रावण के मात्र एक ही मस्तक और दो ही हाथ थे, ऐसी स्पष्टता हुई है। लंका में प्रवेश करने के बाद हनुमान ने जब पहली बार रावण को उसके शयनकक्ष में सोया हुआ देखा तो वह दोनो हाथ फैलाकर सोया था, ऐसा उल्लेख है। रावण-वध के अंत में मंदोदरी तथा अन्य स्त्रियाँ जो विलाप करती हैं, उसमें रावण के

एक मस्तक और दो हाथ होने की ही बात की गई है। राम जब रावण के वध के लिए ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करते हैं तो उस समय 'रावण का शिर' इस प्रकार एक वचन में उल्लेख हुआ है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए दस मस्तकवाले रावण की कल्पना उसके अनेक गुना सामर्थ्य का संकेत करने के लिए प्रयुक्त किया गया प्रतीक होगा, ऐसा मानना बुद्धिगम्य लगता है। (हालाँकि जब सीता का अपहरण किया, उस समय ब्राह्मण वेशधारी रावण तत्काल दस मस्तक और बीस भुजावाले राक्षसरूप में प्रकट हुआ, ऐसा उल्लेख भी है। अन्यत्र भी कहीं-कहीं दस मुख और बीस भुजा की बात अवश्य हुई है। फिर भी उसे असंभावित मानकर एक मुख और दो भुजावाले जो उल्लेख हैं, उन्हें ही स्वीकार करने में औचित्य है।) आज भी व्यवहार में हम किसी शक्तिशाली या सिरफिरे व्यक्ति को 'दस माथे का मानव' कहते हैं। इस संदर्भ में विश्रवा पुत्र दशग्रीव सिरफिरा, अतिशक्तिशाली और तामसी-प्रकृति को सूचित करने के लिए 'दस माथे का मानव' कहा गया हो, ऐसी संभावना है। अन्यथा कोई बालक दस सिर और बीस हाथ के साथ जनमे और जीवन व्यतीत करे, यह कल्पनातीत है।

दशग्रीव नामाभिधान प्राप्त राक्षसराज रावण किस प्रकार बना, इस विषय में शायद ही कहीं कोई बात कही गई है। उत्तरकांड के सोलहवें सर्ग में इस विषय में एक ऐसी बात है कि एक बार इस लंकाधिपति दशग्रीव ने अपनी शक्ति के अहंकार से प्रेरित होकर भगवान् शिवजी जिस पर्वत पर विराजमान थे, उस पर्वत को उसके मूल से उठाने की धूर्तता की। शिवजी ने अपने पैर के अँगूठे से इस पर्वत को दबाया और इसके फलस्वरूप पर्वत के नीचे दशग्रीव के दोनों हाथ दब गए। वह अपने हाथ छुड़ा नहीं सका और पीड़ा तथा वेदना से चीखने लगा, फिर विनीतभाव से महादेव की स्तुति करने लगा। महादेव ने दयाभाव से अंत में उसे मुक्त तो किया, परंतु लंबे समय तक पीड़ित अवस्था में चीखने के कारण वह रावण कहा जाएगा, ऐसा शिवजी ने उसे शाप दिया। संस्कृत भाषा में 'राव' शब्द का अर्थ 'पुकार' अथवा 'चीख' होता है और दशग्रीव द्वारा दीर्घकाल पर्यंत 'राव' (पुकार) करने के कारण उसका नाम रावण पड़ गया।

इस प्रकार, जिस तरह उसका मूल नाम दशग्रीव उसकी शक्ति को सूचित करता है, उसी तरह उसका प्रचलित नाम 'रावण' उसकी लज्जा और उसके अहंकार—इन दोनों को उजागर करता है। सच कहें तो रावण शब्द उसकी मर्यादा को सूचित करता है, परंतु कालांतर में यह शक्ति के अर्थ में रूढ़ हो गया है।

शिवजी से वरदान प्राप्त करने के बाद रावण जब वापस लौटा तो उसके मातामह (नाना) सुमाली ने उससे कुबेर के पास से लंका का राज्य वापस लेने के लिए कहा। लंका का राज्य वास्तव में सुमाली का था और रावण सुमाली का दौहित्र (नाती) था, इस अर्थ में इस राज्य पर कुबेर की अपेक्षा रावण का ही अधिकार अधिक बनता है, ऐसा सुमाली ने उसे समझाया। यहाँ एक रसप्रद व ध्यान देने योग्य बात यह है कि लंका का राजा बनने की सुमाली की बात को रावण ने अस्वीकार किया था और कहा था—''हे मातामह! कुबेर मेरे बड़े भाई हैं और उनके विषय में मुझे ऐसा नहीं सोचना चाहिए।'' इसके बाद प्रहस्त नामक एक अन्य राक्षस ने रावण को समझाया और उसके समझाने के बाद रावण कुबेर से लंका का राज्य वापस लेने के लिए तैयार हो गया। (यहाँ कैकेयी और मंथरा के बीच जो हुआ था, उसकी अनायास याद आ जाती है। कैकेयी ने भी आरंभ में राम के राज्याभिषेक पर आनंद ही व्यक्त किया था, किंतु बाद में मंथरा के आग्रह से उसका मत-परिवर्तन हुआ था। रावण के मामले में भी ऐसा ही कुछ हुआ है, ऐसा लगे बिना नहीं रहता।)

इसके बाद रावण ने कुबेर के पास दूत भेजकर लंका का राज्य अपने हवाले कर देने अथवा युद्ध करने की चेतावनी दी। पिता विश्रवा के पास जाकर कुबेर ने इस विषय में मार्गदर्शन माँगा और पिता ने उससे कहा, ''रावण शक्तिशाली है, शिवजी के वरदान के कारण अधिक विवेकहीन बन गया है, उसका अहंकार अमर्यादित है और यह

सब लक्ष्य में लेकर देखें तो युद्ध में मात्र स्वजनों का ही रक्तपात होगा, जो इष्ट नहीं। ऐसा कुछ करने की अपेक्षा धर्मात्मा कुबेर को लंका का राज्य रावण को सौंपकर हिमालय की देवभूमि में जाकर निवास करना चाहिए।'' पिता की यह आज्ञा शिरोधार्य कर कुबेर ने लंका का राज्य रावण को सौंपा और स्वयं हिमालय में जाकर निवास करने लगा।

लंका का राज्य प्राप्त करने के बाद रावण ने मयदानव की पुत्री मंदोदरी के साथ विवाह किया। यह वही मयदानव था, जिसने महाभारत में खांडववन के दहन के समय अर्जुन तथा कृष्ण को अपने जीवनदान के बदले में वरदान दिया था और पांडवों की राजधानी इंद्रप्रस्थ में सभामंडप का निर्माण किया था। इस प्रकार यह मयदानव एक पूरे युग के बाद दिखाई देता है। यहाँ दूसरी एक और बात ध्यान देने योग्य है। दानव, राक्षस, दैत्य और असुर शब्द व्यवहार में हम भले एक ही वर्ग के लिए अथवा एक-दूसरे के पर्याय के रूप में इस्तेमाल करते हों, परंतु वास्तव में ये चारों जातियाँ एक दूसरे से भिन्न हैं और कई बार इन्होंने परस्पर विग्रह भी किया है।

रावण अपार बल और शिवजी का वरदान धारण करते हुए भी अजेय नहीं रहा। अपनी विजय-यात्रा के दरम्यान किष्किंधा के वानरराज बाली और माहिष्मती नगरी के राजा अर्जुन से वह परास्त हुआ था। सामर्थ्य प्राप्त करना एक बात है और उस सामर्थ्य को झेलना दूसरी बात है। प्राप्ति तो कोई भी कर सकता है, परंतु जो उसे सँभालना जानता है, वह दो कदम आगे आता है। देवत्व का पहला लक्षण सामर्थ्यवान् होना नहीं, बल्कि सामर्थ्य होने के बावजूद अहंकार का न होना है। श्रुतिकथा कहती है कि देवों को भी जब ऐसा अहंकार स्पर्श करता है तो विश्वनियंता परमतत्त्व को देवों के होश ठिकाने लगाने के लिए प्रपंच करने पड़ते हैं।

रामायण की कथा का खलनायक निस्संदेह रावण है और जैन परंपरा के अनुसार भी रावण इस अवसर्पिणी काल में आठवाँ प्रतिवासुदेव है। ऐसा यह रावण लंका के सिंहासन पर आरूढ़ होने के बाद सामर्थ्य को सँभाल नहीं पाया। लंकानगरी में प्रजा पर उसने अत्याचार किए हों, ऐसा कहीं उल्लेख नहीं है। वह स्वयं धर्मनष्ठ रहा है और लंका की प्रजा भी वेदपाठी तथा यज्ञादि में श्रद्धा रखनेवाली धर्माभिमुख प्रजा है, ऐसे उल्लेख मिलते हैं। इसके बावजूद अपने राज्य के बाहर वह आततायी और मर्यादाहीन बन गया था, इसमें कोई संदेह नहीं। उसने अकारण ही कइयों के साथ युद्ध करके स्वयं के विजेता होने के दर्प को पोषित किया था। इतना ही नहीं, मंदोदरी जैसी सुशील पत्नी के होते हुए भी उसने अन्य असंख्य स्त्रियों को अपने अंत:पुर में स्थान दिया था। किंतु पत्नियों की संख्या अधिक होने को लेकर कोई आपत्ति जैसी बात तत्कालीन समाज में नहीं थी और केवल रावण ही नहीं, अन्य ऋषि-मुनियों, आर्य राजाओं और देवताओं तक की भी एक से अधिक पत्नियाँ थीं। रावण के पिता स्वयं विश्रवा की आधा दर्जन पत्नियाँ थीं, ऐसे उल्लेख मिलते हैं।

इस प्रकार एक से अधिक पत्नियों का होना कोई अवगुण नहीं, परंतु किसी भी स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध अपहृत करना या उसके साथ दैहिक संबंध स्थापित करना निंद्य माना गया है। रावण ऐसे निंद्य कृत्यों में भी लिप्त रहा। उसके अंत:पुर में इस प्रकार लाई गई अपहृताएँ भी थीं, यद्यपि लंका में प्रवेश करने के बाद सीता की खोज में हनुमान ने जब अंत:पुर का दर्शन किया तो उन्होंने रावण को छोड़कर अन्यत्र न जाने की इच्छा करनेवाली और रावण से पूर्ण रूप से संतुष्ट इन स्त्रियों को अंत:पुर में प्रसन्नतापूर्वक निद्राधीन देखा था, ऐसा उल्लेख है। फिर भी, अपनी सैनिक विजय के बाद मार्ग में से रावण अनेक राजाओं, ऋषियों, देवों और दानवों की कन्याओं का अपहरण कर उन्हें अपने अंत:पुर में लाता था। (उत्तरकांड, सर्ग २४/५) और ये तमाम स्त्रियाँ अत्यंत विलाप करती थीं तथा इनकी स्थिति सिंह के पंजे में पड़ी हिरनी जैसी थी, ऐसी स्पष्टता है।

ऐसे ही एक अत्याचारी कृत्य में रावण ने विवेकभान गँवाया था और ज्येष्ठ भ्राता कुबेर के पुत्र नलकुबेर की

वाग्दत्ता पत्नी स्वर्गगामिनी अप्सरा रंभा पर अपनी कुदृष्टि डाली। तब रंभा ने रावण से प्रार्थना की कि वह तो उसकी पुत्रवधू सामान है, फिर भी रावण ने उसके साथ बलात्कार किया था। इसके बाद अप्सरा रंभा ने अपने पति नलकुबेर के पास जाकर अपनी व्यथा-कथा सुनाई तो क्रोध में भरे नलकुबेर ने रावण को शाप दिया कि अब के बाद यदि रावण काम पीड़ित होकर किसी स्त्री का बलात्कार करेगा तो उसके मस्तक के सात टुकड़े हो जाएँगे।

अनेक नासमझ बुद्धिवादी रावण के पक्ष में यह कहकर कि उसने समर्थ होते हुए भी सीता पर किसी तरह का कोई अत्याचार नहीं किया था, उनका स्पर्श तक नहीं किया था— इस तरह की दलील देते हैं। उन्हें नलकुबेर के इस शाप की बात को ध्यान में रखना चाहिए। रामायण और महाभारत में असंख्य शापों तथा वरदानों की कथाएँ हैं और शाप तथा वरदान आज हमें भले आधिभौतिक लगते हों, परंतु इन कथाओं में वे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं तथा यथार्थ के रूप में अवतरित भी होते हैं, इसे ध्यान में रखना चाहिए। रावण के अत्याचार, दुराचार, बलात्कार तथा अपहरण की अनेक कथाएँ उत्तरकांड में हैं और इन सभी अधर्मों के कारण वह समय-समय पर शापित भी हुआ है। ऐसे शापों की कुल संख्या अठारह है, यह बात ध्यान देने योग्य है। (जबकि एक बात यहाँ स्पष्ट कर देनी चाहिए कि रावण के अत्याचार की अधिसंख्य कथाएँ मात्र उत्तरकांड में आती हैं। यह समूचा उत्तरकांड मूल रामायण का अंश नहीं वरन् प्रक्षिप्त है, ऐसा अनेक विद्वानों का मानना है। परंतु रामायण की जो अधिकृत आवृत्ति 'ओरिएंटल इंस्टीट्यूट' द्वारा प्रकाशित हुई है, उसमें यह उत्तरकांड है। फिर भी रामायण के आरंभ में ही बालकांड में रामायण की जो कथा और विवरण दिए हैं, उसके अनुसार राम की लंका-विजय तथा अयोध्या में उनके पुनरागमन के साथ ही इस कथा की समाप्ति हो जाती है।)

ऐसा लगता है कि अपनी इस विजय-यात्रा के दौरान रावण ने दंडकारण्य प्रदेश को अपने आधिपत्य में लिया था और इस प्रदेश के अधिपति के रूप में अपने दो मौसेरे भाई खर तथा दूषण की वहाँ नियुक्ति की थी। शूर्पणखा के पति की मृत्यु ऐसे ही एक युद्ध के दौरान रावण के हाथों हुई थी। विधवा शूर्पणखा ने जब भाई के पास विलाप किया तो रावण ने उसे सांत्वना दी और अपने हाथों अनजाने में हो गए इस वध के लिए क्षमा-याचना की; और मानो इस क्षति की पूर्ति करने के लिए ही उसने शूर्पणखा को इस प्रकार दंडकारण्य में यथेच्छ विहार करने के लिए कहा हो। इसके लिए रावण ने खर-दूषण को भी यथोचित निर्देश दिए।

अपने वनवास के दौरान प्रवास कर रहे राम दंडकारण्य में आए तो उस समय इस प्रदेश पर शूर्पणखा निरंकुश होकर विहार कर रही थी और खर-दूषण अपने सामर्थ्य से इस क्षेत्र में भय फैला रहे थे। शूर्पणखा के नासिकाछेदन का प्रसंग सर्वविदित है। इस प्रकार विरूप तथा अपमानित हुई शूर्पणखा का बदला लेने के लिए खर-दूषण ने अपने चौदह हजार राक्षसों के साथ राम के साथ युद्ध किया और मारे गए। इससे त्रस्त होकर शूर्पणखा ने लंका में आकर रावण से अपनी दु:ख-कथा कही। इसके पूर्व दंडकारण्य के संहार से बच गए अकंपन नाम के राक्षस ने लंका में आकर रावण को इस संहार की बात बताई थी।

रामायण की कथा में रावण का सर्वप्रथम प्रवेश उसके फुफकार मारते अहंकार के साथ हुआ है, यह ध्यान देने लायक घटना है। अकंपन जब रावण को खर-दूषण की पराजय की बात बताता है तो रावण रोषपूर्वक चिल्लाते हुए कहता है कि मेरे इस प्रदेश पर आक्रमण करनेवाला यह दुस्साहसी कौन है? अब उसका स्थान यमलोक में ही होगा, क्योंकि मेरे राज्य में अपराध करनेवाला इंद्र, यम, कुबेर या विष्णु, जो भी हो, वह बच नहीं सकेगा। मैं काल का भी काल हूँ। अग्नि को भी जला सकता हूँ तथा स्वयं मृत्यु को भी मार सकता हूँ। इस प्रकार रावण का प्रथम प्रवेश और उसके वचन उसके व्यक्तित्व के मूलभूत लक्षणों को स्पष्ट रूप से प्रकट कर देते हैं।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि पहले अकंपन और उसके बाद शूर्पणखा दंडकारण्य में राक्षसों का वध हुआ,

इसके लिए राम के साथ युद्ध करके उनके वध का बदला लेने के लिए नहीं कहते, बल्कि ये दोनों सीता के सौंदर्य का बखान करते हैं और ऐसी सुंदर स्त्री तो रावण की पत्नी ही होनी चाहिए, ऐसी ललचानेवाली बात करते हैं। शूर्पणखा तो इस हद तक रावण से झूठ बोलती है कि मैं तो इस पीनपयोधरा और सुनितंबनी स्त्री को तुम्हारी पत्नी बनाने के लिए ही लेने गई थी और लक्ष्मण ने उस समय मेरी यह अवदशा की थी।

रावण के अहंकार तथा शक्ति को ध्यान में रखते हुए तो अकंपन और शूर्पणखा द्वारा उसे युद्ध के लिए ही प्रेरित किया जाना चाहिए था। इतना ही नहीं, स्वयं रावण को भी राम के मानवी रूप को ध्यान में रखते हुए वह स्वयं अजेय है, यह मानकर युद्ध के लिए ही उद्यत होना चाहिए था, किंतु ऐसा हुआ नहीं। राम के वध की अपेक्षा सीता की प्राप्ति उसके मन को अधिक ललचाती है। इसका कारण शायद मनोवैज्ञानिक रूप से ऐसा भी हो सकता है कि शक्ति और अहंकार भी काम के उत्तेजक परिबल के समक्ष नगण्य बन जाते हैं। अकंपन और शूर्पणखा दोनों रावण का यह दुर्बल पक्ष अच्छी तरह जानते रहे होंगे। राम शक्तिशाली हैं, इसका इन दोनों को प्रत्यक्ष प्रमाण मिल चुका था, इसलिए शक्ति के मुकाबले के बदले रावण के इस दुर्बल पक्ष को कोमल हाथों से सहलाकर बदला लेना बेहतर है, ऐसा उन दोनों को लगा हो, ऐसा संभव है। उनकी यह युक्ति सफल भी हुई। राम का वध करके वैरतृप्ति करने में रावण की कोई रुचि नहीं होती, इस तरह वह मात्र सीता के सौंदर्य से आकर्षित होकर उन्हें अपनी भार्या बनाने के लिए उनका अपहरण करना स्वीकार करता है। ऐसा करने से सबसे पहले मारीच उसे रोकने का प्रयास करता है। मारीच दंडकारण्य में ही रहता था और सीता का अपहरण करने के लिए गए रावण ने जब मारीच से इस काम के लिए सहायता माँगी तो उसने राम से शत्रुता मोल लेने के बदले उनकी मित्रता रावण के लिए अधिक ठीक है, ऐसा समझाया तथा सीता का अपहरण करने के बजाय लंका में शांतिपूर्वक राज्य करने की सलाह दी।

स्मरण रहे कि इस मारीच को वर्षों पूर्व विश्वामित्र के यज्ञ के समय राम की धनुर्विद्या का अनुभव हो चुका था। मारीच के समझाने के बाद एक बार तो रावण वापस भी लौट चुका था, परंतु शूर्पणखा ने उसे सीता के सौंदर्य से पुन: ललचाया। इतना ही नहीं, रावण यदि ऐसा नहीं करता है तो वह कर्तव्यभ्रष्ट है, भयभीत और निर्बल है, यही लोग कहेंगे—ऐसा भी शूर्पणखा ने कहा। रावण के अहंकार को छेड़ने के लिए इतना पर्याप्त था और उसने फिर से मारीच को धमकाकर कांचनमृग का आयोजन अमल में लाने के लिए कहा।

इसके बाद योजनानुसार ही सब हुआ और तापसवेशधारी रावण ने सीता का अपहरण किया। अपहरण के क्षण तक तो सबकुछ योजना के अनुसार ही हुआ है, किंतु इसके बाद तुरंत ही जटायु के साथ युद्ध रावण के लिए अप्रत्याशित था। जटायु वृद्ध था, नि:शस्त्र था, अपनी चोंच और पंखों के सिवा आक्रमण या बचाव के लिए उसके पास कोई साधन नहीं था। इसके बावजूद जटायु ने जिस प्रकार रावण के साथ युद्ध किया है, वह शक्ति की अपेक्षा उद्देश्य कितना बढ़कर है, इसका संकेत करता है। एक क्षण तो जटायु ने रावण का धनुष तोड़ डाला, रथ तोड़ डाला, अश्वों को मार डाला और सारथि का भी वध कर डाला। इतना ही नहीं, उसने रावण को धरती पर गिरा दिया। इसके बावजूद अंतत: रावण की शक्ति के सामने वह पराजित हुआ और सीता को अपने हाथ में उठाकर रावण हवा में उड़ते हुए लंका की ओर प्रस्थान कर गया।

लंका में अपने अंत:पुर में लाकर रावण ने सीता के समक्ष जो कहा है, उसमें लंका में बत्तीस करोड़ राक्षसों के होने का उल्लेख है। लंकानगरी का विस्तार सौ योजन था, इसका भी उल्लेख है। ये दोनों आँकड़े अतिशयोक्तिपूर्ण हों, ऐसा लगे बिना नहीं रहता। पति को त्यागकर रावण की प्रेम-याचना को स्वीकार करना सीता के लिए लज्जास्पद नहीं वरन् धर्मानुकूल है, ऐसे कहकर रावण ने यहाँ धर्मशास्त्र का उल्लेख किया है। इसके बाद रावण ने सीता को अशोक वाटिका में अनेक राक्षस स्त्रियों के अंकुश में रख दिया। स्मरण रहे कि सीता के आस-पास किसी पुरुष को

उसने नियुक्त नहीं किया था।

सीता की खोज में लंका में प्रवेश कर हनुमान ने अशोक वाटिका में उत्पात मचाया और उसके बाद इंद्रजित द्वारा उन्हें बंधन में ले लिया गया। बंदी बनाए गए हनुमान को इंद्रजित ने अपराधी के रूप में रावण के समक्ष उपस्थित किया। हनुमान ने अशोक वाटिका में मचाए उत्पात में रावण के पुत्र अक्षयकुमार सहित अनेक राक्षसों का संहार किया था। रावण कोप से भरा था और हनुमान ने जब अपना परिचय राम के दूत के रूप में दिया, तब तो सीता को पुन: प्राप्त करने के लिए राम का युद्ध का संदेश उसे मिल ही चुका था। वह हनुमान का वध करना चाहता था और बंदी हनुमान को मार डालने का उसने अनुचरों को आदेश भी दे दिया। लेकिन सभा में उपस्थित विभीषण ने रावण को ऐसा करने से रोका और कहा कि उच्च कुल के राजा दूत का वध नहीं करते। हनुमान स्वयं को राम का दूत बताते हैं, इसलिए उनका वध करना रावण के लिए धर्मविरुद्ध तथा निंद्य माना जाएगा। इतना ही नहीं, राम पर विजय प्राप्त करना तो रावण के लिए अत्यंत सरल काम है। दूत को दंड देना हो तो उसके किसी अंग का विच्छेद करना चाहिए—ऐसा शास्त्रवचन है, यह ध्यान में रखते हुए रावण को हनुमान को दंडित करना चाहिए।

रावण ने विभीषण के इस तर्क को स्वीकार किया और वानरों के लिए पूँछ विशेष पहचान होती है और यह अंग उन्हें सर्वाधिक प्रिय होता है, इसलिए हनुमान की पूँछ जला देने के लिए वह सहमत हो गया।

यहाँ एक मुद्दा विचारणीय है। रावण कुशल राजनीतिज्ञ था, इसे युद्ध के अंत में राम ने भी स्वीकार किया है। कोई भी कुशल राजनीतिज्ञ धर्म के किसी भी सिद्धांत के आधार पर हनुमान को दूत के रूप में स्वीकार करे, ऐसा संभव नहीं। हनुमान ने चोरी-छिपे लंका में प्रवेश किया था। रात के अँधेरे में शत्रु की नगरी का सैनिक दृष्टि से निरीक्षण किया था। इतना ही नहीं, दूत के रूप में अपने स्वामी का संदेश सीधे-सीधे देने की बजाय अशोक वाटिका का विध्वंस किया और रावण के पुत्र सहित अनेक राक्षसों का संहार किया। इसके बाद भी वे सीधे-सीधे रावण के पास नहीं आए, बल्कि इंद्रजित के हाथों परास्त होकर बंदी बने है। इसमें कहीं भी दूतकर्म नहीं। यह खुला राजद्रोह है। इतना ही नहीं, दूत का वध नहीं किया जा सकता—इस राजधर्म का रावण ने भूतकाल में उल्लंघन भी किया था। कुबेर के दूत का उसने वध किया था। वह दूत राजधर्म की नीति के अनुसार कुबेर द्वारा संदेशवाहक के रूप में भेजा गया था, पर वह संदेश रावण को प्रतिकूल लगने के कारण क्रोध और अहंकार से प्रेरित होकर उसने उसकी हत्या की थी। उस समय विभीषण सहित किसी ने भी दूत अवध्य है, ऐसी शास्त्राज्ञा रावण को याद नहीं कराई थी। विभीषण के इस तर्क को रावण ने स्वीकार किया, यह बहुत असंगत लगता है। रावण को हनुमान के शक्ति-सामर्थ्य द्वारा राम के प्रभाव का संकेत मिल चुका हो, यह ध्यान में रखते हुए हनुमान को पूँछ जलाकर छोड़ देने की बात को स्वीकार कर लेना रावण जैसे राजनीतिज्ञ के लिए सहज नहीं लगता।

युद्ध की पूर्व संध्या पर रावण ने जब अपने मंत्रीगण के साथ युद्ध-विषयक चर्चा की, उस समय अपने बाहुबल में प्रमाणभान-रहित विश्वास रखनेवाले हर किसी ने रावण को युद्ध के लिए ही उकसाया था। इसमें विभीषण अपवाद थे, यह हर कोई जानता है, किंतु कुंभकर्ण तक ने भी रावण को उसके इस कृत्य के लिए फटकार लगाई थी, यह बात बहुत कम लोग जानते हैं। अभी युद्ध शुरू नहीं हुआ था और कुंभकर्ण भी उस क्षण जाग्रतावस्था में था। रावण की यह बात सुनकर उसने रावण को फटकार लगाई है और कहा है कि छलपूर्वक गुप्तवेश धारण करके परस्त्री का हरण करना पाप कर्म है और ऐसा पाप कर्म करने से पूर्व ही रावण को सबके साथ मिलकर पर्याप्त विचार कर लेना चाहिए था। यद्यपि आपने परिणाम का विचार किए बिना अनुचित काम किया है तथापि अब मैं तो आपकी रक्षा के लिए ही रहूँगा और अपनी पूरी शक्ति से राम के साथ युद्ध करूँगा।

तुलना के किसी भी उद्देश्य के बिना यहाँ किसी को महाभारत के भीष्म या द्रोण याद आ जाएँ, ऐसी यह घटना

है। औचित्य-अनौचित्य के पूरे भान के साथ भीष्म तथा द्रोण ने अधर्म के साथ रहना पसंद किया, इसी प्रकार रावण के पक्ष में अधर्म है, ऐसी पूर्ण भानता के साथ कुंभकर्ण ने भी रावण का साथ देना पसंद किया है। अन्य राक्षसों में ऐसी कोई समानता नहीं। ये सभी धर्म-अधर्म की किसी चर्चा में उतरते नहीं और निरे बल पर ही प्रसन्न रहे हैं।

इन सबमें भी विभीषण का व्यवहार अलग पड़ जाता है। विभीषण ने आरंभ से ही रावण के कदम का अनौचित्य समझाने की कोशिश की है। राजाओं के लिए स्त्री, मृगया, द्यूत, मद्यपान आदि कैसे विनाशकारी परिणाम ला सकते हैं, यह सब विभीषण ने रावण को समझाया है। इतना ही नहीं, राम कैसे महापुरुष हैं, धर्मिष्ठ हैं और रावण से कितने अधिक शक्तिशाली हैं, यह सब भी कठोरतापूर्वक उसे समझाया है।

यहाँ एक बात ध्यान देने लायक यह है कि विभीषण के ऐसे कठोर वाक्यों को सुनने के बाद भी रावण ने विभीषण का त्याग नहीं किया। कथाकार कहते हैं कि इस प्रकार विभीषण के वचनों से क्रोधित होकर रावण ने उन्हें लंका त्यागने की आज्ञा नहीं दी। उसने विभीषण की बात अस्वीकार अवश्य की है। इतना ही नहीं, उसने विभीषण के प्रति शंका भी व्यक्त की है कि अब ऐसा भय भी है कि विभीषण शत्रु के साथ मिलकर राक्षसों की पराजय के लिए प्रयत्न करे। इसके बाद विभीषण ने स्वेच्छया आगे चलकर रावण तथा लंका का त्याग किया और राम का आश्रय लिया।

यहाँ भी महाभारत के युद्ध का एक प्रसंग याद करने लायक है। महाभारत के युद्ध की पूर्व संध्या पर बलराम कृष्ण के साथ और विदुर बड़े भाई धृतराष्ट्र के साथ सहमत नहीं होते हैं। फिर भी, इन दोनों भाइयों ने विरोधी पक्ष में शरण नहीं ली, बल्कि युद्ध में अलिप्त रहने का निर्णय लिया।

सभी युद्धों में जैसा होता है, उसी तरह राम-रावण युद्ध में भी युद्ध-संबंधी तमाम धर्मों का पालन नहीं हुआ। जिस प्रकार कुरुक्षेत्र के युद्ध के दौरान धर्म की अपेक्षा अधर्म ही अधिक व्याप्त हुआ था और तमाम नीति-नियमों का उल्लंघन हुआ था, उसी प्रकार राम-रावण युद्ध में भी प्राय: ऐसा ही हुआ है। रावण के पक्ष में अनीति तो थी ही और जिस प्रकार राम के पक्ष में नीति के उपरांत विवेक तथा सामान्य समझ थी, उसका रावण के पक्ष में स्पष्ट अभाव था। फिर भी राम-रावण युद्ध में भी रात्रियुद्ध हुए हैं, भाग रहे शत्रुओं पर प्रहार हुए हैं, नि:शस्त्र शत्रु का वध हुआ है तथा एक शत्रु के ऊपर अनेक ने मिलकर आक्रमण किए—ऐसा निश्चित रूप से हुआ है। इतना ही नहीं, रात्रियुद्ध के दौरान लंका नगरी की नागरिक बस्ती को भी आग में जलाया गया है तथा स्त्रियों सहित बच्चे तक इसमें जलकर नष्ट हुए।

रावण यह युद्ध क्रमश: गँवा रहा था और उसके सबसे अधिक समर्थ कहे जानेवाले सेनानी एक के बाद एक परास्त हो रहे थे, यह जानते हुए भी वह मोह नहीं छोड़ पाता है। अहंकार का यह एक विशिष्ट लक्षण है। महाभारत में जिस तरह दुर्योधन में यह लक्षण प्रकट हुआ है, उसी तरह रामायण में रावण में यह लक्षण व्यापक रूप में दिखाई देता है। अहंकार का स्वरूप ऐसा है कि जैसे-जैसे उसे असफलता मिलती जाती है, वैसे-वैसे वह अधिकाधिक बलवान् होता जाता है। संपूर्ण विनाश हुए बिना उसका स्वाभाविक अंत आता ही नहीं। मायावी सीता का सृजन करके युद्धभूमि पर राम तथा लक्ष्मण को भ्रमित कर देने तथा उसी माया द्वारा राम के मस्तक का निर्माण करके सीता की छलना करने के लिए रावण ने युद्ध के दौरान भरपूर प्रयास किए थे।

युद्ध की समयावधि कम-से-कम छह महीने और अधिक-से-अधिक बारह महीने रही हो, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। श्रीराम दस वर्ष चित्रकूट में रहे हैं और तत्पश्चात् सीताहरण तथा उनकी खोज की प्रक्रिया में और एक-दो वर्ष बीत गए हों, ऐसी छिटपुट जानकारियाँ उपलब्ध होती हैं। युद्ध की पूर्वसंध्या पर कुंभकर्ण जाग्रतावस्था में था, परंतु युद्ध के बीच में ही उसकी निद्रावस्था पूरी हो गई। निद्रावस्था का उसका अंतराल छह महीने का होता था

—ऐसा उल्लेख रामायण में है। इस प्रकार कुंभकर्ण की निद्रावस्था का आरंभ और उसके अंत के बाद भी युद्ध चला है, जिसे देखते हुए यह संघर्ष नौ से बारह महीने चला हो, ऐसा लगता है। इतना ही नहीं, युद्ध के अंत में राम ठीक चौदहवें वर्ष के अंतिम दिन अपने वचनानुसार भरत के पास पहुँच गए थे। यह गणना अध्ययनकर्ताओं द्वारा ध्यान में रखी जाने लायक है।

रावण के वध के बाद उसकी मृतदेह के पास उसकी पत्नियों ने जो विलाप किया है, उसमें मंदोदरी द्वारा किया गया विलाप लक्ष्य में लेने लायक है। विलाप करते समय मंदोदरी ने रावण को आर्यपुत्र कहकर संबोधित किया है। (इससे पहले बाली-वध के प्रसंग में तारामती ने भी बाली को आर्यपुत्र ही कहा है तथा सीता तो हमेशा राम को आर्यपुत्र ही कहकर बुलाती थीं। इसे देखते हुए राम, बाली या रावण—ये तीनों लक्षणों से भिन्न भले हों, किंतु जहाँ तक आर्यकुल से संबंध है, वे सगोत्र हों—ऐसी संभावना पर भी विचार किया जा सकता है। राक्षस या वानर आर्येतर जाति के थे, यह धारणा निराधार सिद्ध हो जाती है।) मंदोदरी विलाप करते हुए कहती है—''हे राजा! आपने जीवनकाल में अनेक धर्मपरायण पतिव्रता कुल-ललनाओं को विधवा बनाया अथया भ्रष्ट किया—यह उसी का परिणाम है।'' इस प्रकार मंदोदरी पति के अधर्माचरण से पूर्णत: अभिज्ञ थी, यह स्पष्ट होता है।

कई अध्ययनकर्ताओं ने रावण के कुछ लक्षणों को भिन्न परिप्रेक्ष्य में रखकर उसे उज्ज्वल चित्रित करने का प्रयत्न भी किया है। बंगाली विद्वान् माइकल मधुसूदन दत्त ने अपने 'मेघनाद-वध' नामक काव्य में रावण को नया ही परिवेश दिया है। रावण को अपना पूर्वज माननेवाला एक समुदाय मध्य प्रदेश में आज भी अस्तित्व में है। द्रविड़ लोग तो खासतौर से ई.वी. रामास्वामी और उनके राजकीय अनुयायी रावण को श्रेष्ठतम पुरुष बताकर उसका यशोगान करते हैं। परंतु इन सभी में अध्ययन की विशुद्ध दृष्टि नहीं, बल्कि राजकीय अथवा अन्य हेतुप्रेरित दृष्टि है। विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से खलनायक अथवा खलनायिका के पात्र को भिन्न परिप्रेक्ष्य में देखते हुए उसे गरिमा प्रदान करने का प्रयास संस्कृत कवियों ने किया है। रामायण की कैकेयी को 'प्रतिमानाटकम्' में तथा महाभारत के दुर्योधन को 'उरुभंग' में प्रस्तुत करने का कवि भास ने प्रयास किया है, हालाँकि ऐसे प्रयास अधिक लोकमान्य नहीं हुए।

रावण द्वारा किए गए सीताहरण को न्यायसंगत ठहराने के लिए कुछ बौद्धिकों ने प्रयास किए हैं। उनका तर्क यह है कि शूर्पणखा तत्कालीन समाज की प्रवर्तमान पद्धति के अनुसार राम पर मोहित होकर उनके समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखती है, इसमें कुछ भी गलत नही। गंगा ने महाराज प्रतीप के पास या केकसी ने मुनि विश्रवा के पास इसी प्रकार पत्नी के रूप में स्वीकार करने का प्रस्ताव रखा था। राम ने शूर्पणखा के इस प्रस्ताव को सीधे-सीधे और स्पष्ट रूप से इनकार कर देने के बदले उसे लक्ष्मण के पास भेजा। लक्ष्मण ने भी शूर्पणखा के प्रस्ताव को मानने से इनकार कर दिया। इतना ही नहीं, लक्ष्मण ने शूर्पणखा से कहा, ''तुम तो राम के ही योग्य हो, इसलिए राम की दूसरी पत्नी बन जाओ।'' इस तरह दोनों भाइयों ने जैसे साँठगाँठ कर कामवश हुई शूर्पणखा का क्रूर मजाक उड़ाया है। इसके बाद शूर्पणखा अपने इस अपमान का मूल कारण सीता ही है, ऐसा समझकर सीता पर झपटी तो लक्ष्मण ने उसके नाक और कान काट डाले और उसे कुरूप बना दिया। राम और लक्ष्मण का यह कृत्य शूर्पणखा सहित रावण को भी उत्तेजित करे, ऐसा था। रावण जैसा गर्विष्ठ और शक्तिशाली राक्षस बहन पर हुए इस आक्रमण का प्रतिशोध लेने के लिए प्रत्युत्तर में कदम उठाए, इसमें आश्चर्य क्या?

इस तर्क को आगे रखनेवाले यह भूल जाते हैं कि दंडकारण्य में खर-दूषण राक्षसों ने अत्याचार किया था तथा ऋषि-मुनियों को त्रस्त भी किया था। इस प्रदेश में रहनेवाले आश्रमवासियों ने राक्षसों के त्रास से स्वयं को मुक्त कराने के लिए राम से गुहार लगाई है। राम ने उन्हें वचन भी दिया है कि इन अत्याचारी राक्षसों का नाश करेंगे।

इसके अलावा यह भी लक्ष्य में लेना चाहिए कि शूर्पणखा एक क्षण राम पर मोहित हुई है तो दूसरे ही क्षण राम के एक वाक्य मात्र से उसे लक्ष्मण का मोह व्याप्त हो गया है।

इस प्रकार शूर्पणखा विवाह के किसी पवित्र भाव से नहीं, बल्कि काम के क्षणिक आवेग से ही वहाँ गई है। इतना ही नहीं, रावण को प्रतिशोध लेने के लिए जब वह उकसाती है तो वह किस हेतु से राम और लक्ष्मण के पास गई थी, इस विषय में वह असली बात नहीं बताती है। इतना ही नहीं, वह तो रावण के लिए सीता को उठा लाने के लिए वहाँ गई थी, ऐसा असत्यवादन करती है। इसके बावजूद रावण ने यदि सीता का हरण करने की बजाय खर-दूषण की भाँति राम का दंडकारण्य में ही प्रतिकार किया होता तो रावण के इस कदम को कुछ अंश तक प्रतिशोध के लिए किया गया सामान्य कृत्य समझकर धर्मसंगत भी माना जाता। लेकिन रावण ने शूर्पणखा या खर-दूषण के प्रतिशोध के लिए सीता का अपहरण नहीं किया, बल्कि उसका मूल हेतु सीता के सौंदर्य को भ्रष्ट करने का था।

मानव-जीवन के दो दुर्गुण ऐसे हैं जो अन्य तमाम गुणों को व्यर्थ कर देते हैं। रावण शक्तिशाली था, ज्ञानी और समृद्ध था, भगवान् शिव का परम भक्त था, अपनी प्रजा तथा परिवार में प्रियपात्र भी था। इसके बावजूद वह निरा खलनायक बनकर रह गया। इतना ही नहीं, जीवन के अंतिम चरण में हताश अवस्था और बुरी हालत में वह मृत्यु को प्राप्त हो गया। उसकी आँखों के सामने ही उसका पूरा परिवार नष्ट हो गया। ये दोनों दुर्गुण हैं—अमर्यादित कामवासना, खासकर परस्त्री के प्रति आकर्षण और अहंकार। रावण के व्यक्तित्व में से यदि इन दोनों दुर्गुणों को निकाल दिया जाए तो खलनायक के रूप में स्थान बदल जाएगा।

❑

—९—
बाली और सुग्रीव

रामायणकालीन समाज में तीन प्रकार के सांस्कृतिक स्तर देखे जा सकते हैं। पहला प्रकार अयोध्या, मिथिला या उनके आस-पास के उत्तर भारत के प्रदेशों में विकसित हुई सामाजिक और वैचारिक संस्कृति में दिखाई देता है। दूसरा प्रकार पंचवटी, दंडकारण्य या किष्किंधा के आस-पास के प्रदेश में बसी जातियों के व्यवहार में दृष्टिगोचर होता है। तीसरा प्रकार तत्कालीन भारतीय उपमहाद्वीप के दक्षिण विस्तार जैसे लंका या फिर समुद्रतट के प्रदेशों में देखा जा सकता है। इन तीनों के बीच स्वतंत्र तुलनात्मक अध्ययन हो सकता है। ऐसे किसी अध्ययन की पूर्वभूमिका पूरी करें, ऐसे तीन बंधुयुग्मों के नाम तत्काल स्मृति-पटल पर उभरकर आते हैं। राम और लक्ष्मण अथवा राम और भरत जैसे एक स्तर का प्रतिनिधित्व करें, ऐसे पात्र हैं। दूसरे स्तर के पात्रों में बाली और सुग्रीव इन दो सहोदरों के नाम लिए जा सकते हैं और तीसरे स्तर का प्रतिनिधित्व करनेवाले भ्राताओं में रावण और विभीषण के नाम गिनाए जा सकते हैं।

ये तीन प्रकार के बंधुयुग्म तत्कालीन भारतवर्ष में प्रवर्तमान त्रिस्तरीय सांस्कृतिक रचना के विषय में प्रकाश डालने में सक्षम हैं। इन पात्रों में राम हों या लक्ष्मण अथवा भरत हों या रावण अथवा विभीषण हों, इन सबके विषय में स्वतंत्र रूप से विचार किया जा सके, इतनी सामग्री महर्षि वाल्मीकि ने हमें उपलब्ध कराई है। बाली और सुग्रीव के विषय में भी यही कहा जा सके, ऐसा नहीं है। बाली के विषय में जो भी उल्लेख उपलब्ध हैं, वे किष्किंधाकांड के कुछ थोड़े सर्गों तक ही सीमित हैं। इन थोड़े सर्गों में भी बाली एक विशिष्ट पात्र के रूप में उभरकर आता है और उसका जो कुछ योगदान वाल्मीकि ने चित्रित किया है, उसका प्रभाव रामायण की अनुवर्ती घटनाओं पर खास रहा है। सुग्रीव का प्रवेश किष्किंधा में ही हुआ है और यह प्रवेश बाली से पहले हुआ है। इतना ही नहीं, सुग्रीव रामायण के अंतिम चरण तक, राम के स्वर्गारोहण तक कभी-कभार दिखाई देता रहा है। इसके बावजूद सुग्रीव के विषय में विचार करना हो तो बाली को केंद्र में रखकर ही विचार करना होगा; क्योंकि सुग्रीव का राम के जीवन में प्रवेश बाली को लक्ष्य में रखकर ही हुआ है। इस प्रकार बाली और सुग्रीव—ये दोनों भाई एक ही सिक्के के दो पहलू हों, ऐसा लगे बिना नहीं रहता। ऐसा होने के कारण इस भूमिका के साथ हम दूसरे स्तर के प्रतीक समान इन दोनों भाइयों के विषय में अब विचार करें।

रामायण के प्रारंभ में ही ऐसा कहा गया है कि बाली देवराज इंद्र का अंश है तथा सुग्रीव सूर्य की संतान है। इस अर्थ में महाभारत के अर्जुन तथा कर्ण को कई बार इन दोनों वानर वीरों के भाइयों के रूप में भी परिचित कराया जाता है। किष्किंधा और उसके आस-पास के प्रदेश में बसी वानरजाति के राजा ऋक्षराज के ये दोनों पुत्र हैं। दोनों भाइयों के बीच अपार स्नेह और परम सख्य था, ऐसे उल्लेख भी हैं। ऋक्षराज की मृत्यु के बाद ज्येष्ठ होने के कारण बाली किष्किंधा के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। किष्किंधा अयोध्या या लंका जैसी संपूर्ण नगरी थी या फिर अर्धशिक्षित और आदिवासी जैसी वानरजाति के बसने के लिए गुफा थी, इस विषय में दो भिन्न-भिन्न उल्लेख रामायण में मिलते हैं। किष्किंधाकांड, सर्ग-२५/२० तथा सर्ग २६/१० में किष्किंधा किसी गुफा का नाम हो, ऐसी स्पष्टता हुई है। इसके उपरांत 'पर्वत गुफा' किष्किंधा ऐसा शब्द भी सर्ग २६/७ में प्रयुक्त हुआ है। अन्यथा लक्ष्मण क्रोधित अवस्था में जब सुग्रीव के पास आते हैं, उस समय जिस नगरी का वर्णन किया गया है, उसमें गुफा के अंदर बसी किष्किंधा को पूर्ण नगरी के रूप में भी चित्रित किया गया है। इस तरह किष्किंधा का प्रवेश-द्वार गुफा

में हो और फिर पूर्ण नगरी हो, ऐसी भी संभावना है। किष्किंधा के स्थापत्य, इमारतें, भवन, सड़कें—ये सब पूर्ण नगरी के ही हों, ऐसा प्रतीत होता है।

बाली अपार बल तथा सामर्थ्य रखता था। स्वयं सुग्रीव ने उसकी शक्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि सूर्य का उदय हो, उससे पहले ही प्रात:काल में बाली चारों दिशाओं में चार समुद्रों में स्नान तथा संध्यावंदना करके किष्किंधा वापस लौटता है तो उस समय तनिक भी थका हुआ नहीं लगता। ऐसी अपार शक्ति होने के बावजूद बाली ने रावण की तरह आगे चलकर कभी भी युद्ध आमंत्रित नहीं किए। फिर भी युद्ध की आ पड़ी चुनौती का वह सफलतापूर्वक सामना किए बिना नहीं रहा। दुंदुभि तथा मायावी नाम के राक्षसों को उसने जिस तरह पराजित किया था, उससे स्वयं सुग्रीव भी डर गया था। गोलभ नामक गंधर्व को सतत रात-दिन पंद्रह वर्ष तक युद्ध करके बाली ने पराजित किया था।

वरदान प्राप्त करने के बाद मदोन्मत्त रावण ने जब बाली को युद्ध के लिए ललकारा, उस समय समुद्रतट पर एक पर्वत पर प्रात:वंदना कर रहे बाली ने एक भी क्षण के विलंब के बिना अपनी काँख में उसे इतनी जोर से दबाकर रखा कि रावण छूट नहीं सका था। इतना ही नहीं, काँख में दबाई हुई अवस्था में ही रावण को अपने साथ घसीटकर दूसरे समुद्रों के तट पर नियमानुसार पूजन भी किया। इसके बाद रावण को भूमि पर पटककर उसने उपहास करते हुए पूछा, ''हे राक्षसराज! कहिए, अब आपको क्या चाहिए?'' रावण ने लज्जित होकर बाली के समक्ष मैत्री का हाथ फैलाया और बाली ने विजेता होते हुए भी उसकी मैत्री को उदारतापूर्वक स्वीकार भी किया।

बाली के पक्ष में एक बात निर्विवाद रूप से स्वीकार करनी चाहिए कि वह युद्धखोर नहीं था। अपार शक्ति होते हुए भी उसने कभी भी अपना आधिपत्य दूसरों से स्वीकार करवाने के लिए अहंकारपूर्ण कोई आचरण नहीं किया। इसके बावजूद उसकी शक्ति को यदि कोई ललकारे तो वह सहन नहीं कर सकता। इतना ही नहीं, एक बार उसके मन में कोई निश्चित धारणा बन जाए तो फिर वह उसमें समझौता नहीं कर सकता।

मायावी नाम के एक राक्षस का वध करने के लिए उसके पीछे पड़े बाली और सुग्रीव दोनों भाई एक गुफा के दरवाजे के पास रुक गए। मायावी इस गुफा में बैठ गया था, इसलिए बाली ने सुग्रीव को द्वार की रक्षा करने का काम सौंपकर मायावी का वध करने के लिए गुफा में प्रवेश किया। पूरे एक वर्ष तक सुग्रीव ने बाली के वापस आने की प्रतीक्षा की और उसके बाद उसे गुफा में से चीत्कार सुनाई दी तथा रक्त की धार बाहर आई। सुग्रीव को लगा कि मायावी ने बाली का वध कर डाला है और अब वह बलिष्ठ राक्षस बाहर आकर किष्किंधा को हानि न पहुँचाए, इस आशंका से सुग्रीव ने पर्वत का एक शिखर उठाकर गुफा का द्वार बंद कर दिया। इसके बाद किष्किंधा वापस लौटे सुग्रीव को मंत्रीगणों ने आग्रहपूर्वक राजपद पर स्थापित किया, क्योंकि बाली ने ही उसे इससे पहले युवराज पद पर स्थापित किया ही था।

यहाँ ध्यान देने योग्य उल्लेख यह है कि राजा बने सुग्रीव ने बाली की पत्नी तारा को भी अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार किया है (किष्किंधाकांड-४६/९ और ५५/३)। इसके बाद विजेता बाली गुफा के द्वारा पर रखे पर्वत-शिखर को हटाकर किष्किंधा आया तो सुग्रीव को राजपद पर आरूढ़ हुआ देख उसके क्रोध का पारावार न रहा। सुग्रीव ने जान-बूझकर पूरे गणित के साथ उसका वध हो जाए, ऐसे आयोजन के साथ षड्यंत्र रचा था, ऐसी बाली को आशंका हुई। सुग्रीव को अपनी भूल समझ में आ गई। उसने नम्रतापूर्वक बार-बार क्षमा-याचना की तथा बाली को पुन: राज्य सौंपकर उसके सेवक के रूप में चँवर डुलाने तक की नम्रता दिखाई, किंतु बाली का क्रोध शांत नहीं हुआ। उसने सुग्रीव को दुत्कार दिया और पहने हुए वस्त्र में ही राज्य से बाहर निकाल दिया। इतना ही नहीं, सुग्रीव की पत्नी रूमा को भी उसने अपनी पत्नी बना लिया। हनुमान सहित अन्य चार वानरों के साथ सुग्रीव जान बचाने के

लिए ऋष्यमूक पर्वत पर जाकर बस गया। बाली की अमाप-शक्ति से सुग्रीव अवगत था और बाली जब चाहे उसका वध कर डाले, यह असंदिग्ध था, यह बात भी सुग्रीव अच्छी तरह जानता था।

इससे पूर्व दुंदुभि नाम के अन्य एक राक्षस ने बाली को युद्ध के लिए ललकारा तो बाली ने उसका वध कर डाला था। बड़े भैंसे के रूप में लड़ते इस दुंदुभि के रक्तचूते मृतदेह को बाली ने दूर फेंक दिया था। दुंदुभि की मृतदेह ऋष्यमूक पर्वत पर जा गिरी। उससे निकलते रक्त की बूँदों से वहाँ निवास कर रहे मतंग ऋषि का शरीर अपवित्र हो गया। इसके कारण रोष में भरे ऋषि ने बाली को शापित किया कि अब से बाली यदि ऋष्यमूक पर्वत पर पग रखेगा तो वह पत्थर में बदल जाएगा। जबकि एक रसप्रद बात यहाँ यह भी ध्यान में रखनी चाहिए कि मतंग ऋषि ने शाप में जिन शब्दों का प्रयोग किया है, वे इस प्रकार हैं—

दिवसश्चद्य मर्यादा च द्रष्टा श्वोऽस्मि वानरम्।
वहुवर्षसहस्त्राणि स वै शैलो भविष्यति॥

(किष्किंधाकांड-११/५८)

—अर्थात् जो वानर इस पर्वत पर रहते हैं, उनके लिए आज का दिन अंतिम ही है। कल से यदि कोई वानर यहाँ आएगा तो एक हजार वर्ष तक पत्थर बनकर रह जाएगा।

इसका अर्थ यह हुआ कि किष्किंधा के वानर इस पर्वत पर बसते थे और बाली ने जब शाप की यह बात जानी तो उसने ऋषि से क्षमा-याचना भी की। पर ऋषि ने शाप यथावत् रखा। यहाँ विचारणीय मुद्दा यह है कि यह शाप सभी वानरों के लिए है, इसके बावजूद बाली के डर से आश्रय खोज रहे सुग्रीव और हनुमान सहित उसके चार साथी ऋष्यमूक पर्वत पर आकर बसे हैं। यह शाप मात्र बाली तक ही मर्यादित नहीं, फिर भी सुग्रीव स्वयं कहता है कि इस पर्वत पर बाली प्रवेश कर सके, ऐसा न होने के कारण, वह जीवन बचाने के लिए यहाँ (ऋष्यमूक) रहता है। यह विरोधाभास समझ के बाहर है। ऋषि का शाप तमाम वानरों को समेट ले—ऐसे उसके शब्द हैं, इसलिए उसमें सुग्रीव का भी समावेश हो जाता है। मतंग ऋषि द्वारा दिया गया शाप मात्र बाली को ही लक्ष्य में रखकर नहीं दिया गया, क्योंकि दुंदुभि के रक्तकणों से आश्रम को अपवित्र करने का कृत्य करनेवाला कोई वानर था, इसलिए समग्र वानर जाति के संदर्भ में यह शाप दिया गया है। इसके बावजूद सुग्रीव अपने साथियों के साथ यहाँ कैसे सुरक्षित रहा और बाली यहाँ क्यों प्रवेश नहीं कर सका, यह प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है।

राम की अप्रत्याशित सहायता प्राप्त करने के बाद सुग्रीव में नए सिरे से बाली के सामने विजय प्राप्त करने का उत्साह बढ़ा। इसके पहले सुग्रीव ने बाली के साथ द्वंद्वयुद्ध करके विजय प्राप्त करने के प्रयत्न किए हों, ऐसी बात महाकवि ने नहीं दरशाई। सुग्रीव बाली से भय खाता था, ऐसा कभी-कभी कहा भी है। पर बाली की मृत्यु के बाद सुग्रीव जो विलाप करता है, उसमें बाली ने उसे युद्ध में न जाने कितनी बार पराजित कर जीवित छोड़ दिया था, ऐसा संकेत अवश्य मिलता है। संक्षेप में बाली ने सुग्रीव को मात्र निराश्रित बनाकर केवल निकाल ही नहीं दिया था, बल्कि युद्ध या अन्य तरीके से परास्त करके भयभीत भी कर डाला था। सामान्यत: बलिष्ठ होते हुए भी बाली गर्विष्ठ नहीं था, फिर भी उसने सुग्रीव की दीन-वचन से की गई क्षमा-याचना को भी स्वीकार नहीं किया।

सुग्रीव ने पूर्णत: संयोगों को ही लक्ष्य में रखकर तनिक भी बदनीयती के बिना व्यवहार किया हो, ऐसा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। बाली जैसा समझदार व्यक्ति भी संयोगों से प्रेरित होकर, किसी पूर्वग्रह का भोग बनकर, जीवन के किसी दुर्भाग्यपूर्ण अथवा दुर्बल क्षण में कितनी बुरी हद तक व्यवहार करता है और गलत निर्णय ले डालता है, इसका ही यह उदाहरण है। राम की सहायता प्राप्त करने के बाद सुग्रीव ने फिर एक बार बाली को युद्ध के लिए ललकारा। उस समय अपने बलबूते पर वह युद्ध नहीं जीत सकता था, यह बात सुग्रीव भलीभाँति

जानता था। युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए अब शौर्य या पराक्रम नहीं, बल्कि षड्यंत्र ही उपयोगी हो सकता है, यह बात सुग्रीव और हनुमान के साथ राम तथा लक्ष्मण भी जान चुके थे, इसलिए बाली के वध के लिए युद्ध तो बस एक बहाना ही था।

लड़ रहे इन दोनों भाइयों में इतना अद्भुत साम्य था कि वृक्ष की ओट में खड़े रहकर बाली पर बाण चलाने के लिए तैयार राम भी दोनों में से बाली कौन है, यह पहचान नहीं पाए। युद्ध के पहले प्रयत्न में राम ने बाण नहीं छोड़ा, इसलिए थोड़ी ही देर में सुग्रीव हाँफ गया और मार खाई-अवस्था में वह रणभूमि छोड़कर भाग गया। बाली ने उसका पीछा तो किया, परंतु जीवन बचाने के लिए सुग्रीव ऋष्यमूक पर्वत पर चला गया और बाली ने उसके पीछे से आवाज लगाते हुए कहा, ''इस बार तो जाने दे रहा हूँ, पर दूसरी बार यदि ऐसा साहस किया तो प्राणों से हाथ धोने पड़ेंगे।''

इसके बाद सुग्रीव को बाली से अलग करके देखा जा सके, इस हेतु से लक्ष्मण ने उसके गले में एक विशेष प्रकार के पुष्पों की माला पहनाई। यह माला पहनने के बाद राम ने सुग्रीव को पुनः सांत्वना दी, इसलिए सुग्रीव ने तुरंत ही किष्किंधा के द्वार पर फिर बाली को ललकारा। प्रथम पराजय और दूसरी बार की ललकार के बीच कुछ ही घंटों का समय व्यतीत हुआ होगा—ऐसा लगता है। किष्किंधा और ऋष्यमूक के बीच का अंतर एक योजन अर्थात् आठ मील से अधिक नहीं। दूसरी बार युद्ध के लिए सुग्रीव जब किष्किंधा के द्वार पर आया तो समय रात्रि का रहा होगा, क्योंकि बाली की पत्नी तारा ने पति को रोकने के लिए जो बात कही है, उसमें एक श्लोक ऐसा भी है —''आप कल सुबह में सुग्रीव के साथ युद्ध करने के लिए जाइएगा।'' (किष्किंधाकांड-१५/८)।

इसका अर्थ यह हुआ कि बाली-सुग्रीव का दूसरा युद्ध मध्यरात्रि में ही हुआ होगा और बाली का प्राणत्याग तड़के सुबह हुआ होना चाहिए। सुग्रीव अभी थोड़ी ही देर पहले परास्त होकर गया है, फिर भी तुरंत ही वापस आया है, इसलिए उसे कोई अप्रत्याशित सहायता अवश्य प्राप्त हुई है, तारा का यह तर्क बाली ने स्वीकार नहीं किया, ऐसा नहीं। अरण्यवासी राम की सहायता सुग्रीव को प्राप्त होने के विषय में किष्किंधा के गुप्तचरों ने इसके पहले ही जानकारी दे दी है। तारा ने पति को सचेत तो किया परंतु बाली को अपने सामर्थ्य पर जितना विश्वास था, उतना ही विश्वास उसे राम की धर्मनिष्ठा के प्रति भी था। राम उत्तम कुल में जनमे हैं, इसलिए धर्मतत्त्व के ज्ञाता हैं, कौन सा काम करने योग्य है और कौन सा काम करने लायक नहीं, यह पूरी तरह जानते होंगे, इसलिए उसे मारने का पाप राम कभी करेंगे ही नहीं, ऐसा विश्वास बाली ने व्यक्त किया है (किष्किंधाकांड-१६/५)।

बाली का यह विश्वास गलत साबित हुआ और वृक्ष की ओट में खड़े राम ने बाली का वध किया। कई भक्तजन रामायणी ऐसा कहते हैं कि राम ने जब धनुष पर बाण चढ़ाया तो प्रत्यंचा की टंकार सुनकर पक्षी तथा मृग भागने लगे और जब बाण छूटा तो गड़गड़ाहट हुई, ऐसा जो उल्लेख महर्षि ने किया है, उससे यह स्पष्ट होता है कि राम ने बाली को छिपकर बाण मारा हो, यह संभव नहीं। ऐसा तर्क राम के कृत्य को और राम को न्यायसंगत ठहराने के लिए है। किष्किंधाकांड-१४/१ में राम के लिए 'वृक्षैरात्मानमावृत्य' शब्द का प्रयोग किया है। यह शब्द स्वयं स्पष्ट है। राम स्वयं को वृक्ष की ओट में किए हुए खड़े थे।

महाभारत के द्रोणपर्व के अध्याय १९६ में द्रोण के वध के बाद कुपित होकर अर्जुन ने जो कुछ कहा, वह ध्यान देने योग्य है। युधिष्ठिर के असत्यवादन के कारण ही द्रोण ने शस्त्रत्याग किया और धृष्टद्युम्न ने योग अवस्था में उनका वध कर दिया। उसके वध के लिए युधिष्ठिर का असत्यवादन ही कारणभूत था, यह लक्ष्य में लेकर अर्जुन ने रोषपूर्वक कहा है—

चिरं स्थास्यति चाकीर्तिस्त्रैलोके सचराचरे।

रामे बालीवधाद् यद्धदेवं द्रोणे नियातिते॥

(—द्रोणपर्व-१९६/३५)

अर्थात् हे राजा युधिष्ठिर! छिपकर राम ने बाली वध किया, उससे जो अपकीर्ति पाई है, वैसी ही अपकीर्ति असत्यवादन के लिए आपको भी प्राप्त होगी!

इसका संकेत समझने लायक है। स्वयं व्यास ने बाली वध की उक्त घटना का राम द्वारा किए गए अपकृत्य के रूप में वर्णन किया है। राम ने यह कृत्य खुद को छिपाकर किया था, इस विषय में जब व्यास स्वयं प्रमाण दें, फिर तो इस विषय में विवाद के लिए कोई काज कहाँ रह जाता है? (यह श्लोक यद्यपि गीता प्रेस की आवृत्ति में है, पर पुणे के अधिकृत पाठ में इसे स्थान नहीं मिला है।)

राम के बाण से मरणोन्मुख हुए बाली ने राम के समक्ष जो आक्रोश व्यक्त किया है, वह आक्रोश कुरुक्षेत्र के अठारहवें दिन भीम के हाथों उरुघात के कारण मृत्यु को प्राप्त होते दुर्योधन ने कृष्ण के समक्ष जो आक्रोश व्यक्त किया था, उसकी याद दिलाता है। दुर्योधन भीम को परास्त करने में समर्थ था। भीम लगभग परास्त हो ही चुका था कि वहाँ उपस्थित कृष्ण ने गदायुद्ध के नियमों का उल्लंघन करके दुर्योधन की जाँघ पर प्रहार करने का भीम को संकेत दिया और इस संकेत के कारण दुर्योधन पराजित हुआ। यहाँ भी बाली विजयी हुआ होता, इसमें कोई संदेह नहीं और राम की धर्मनिष्ठा पर पूरे विश्वास के साथ बाली ने सुग्रीव के साथ युद्ध किया था। राम ने बाली के ऊपर जो प्रहार किया, वह तत्कालीन धर्मयुद्ध के किसी भी नियम से न्यायसंगत नहीं ठहराया जा सकता। बाली ने राम से यह बात स्पष्ट शब्दों में कही है। बाली के इस संबंध में कहे कुछ शब्द देखें—

''हे राम, मैं आपके साथ युद्ध नहीं कर रहा था, दूसरे के साथ युद्धरत था, तो फिर युद्ध के लिए चेताए बिना ही आपने जिस प्रकार मेरा वध किया है, उससे आपको कौन सा यश प्राप्त होगा? आप धर्मनिष्ठ और गुणी हैं, ऐसा मैंने सुना था और मैं मानता भी था, परंतु आपके इस कृत्य से तो आप अधर्म की ध्वजा लेकर घूमते पुरुष हो, ऐसा ही लगता है। मैं आपके मार्ग में कहीं आया नहीं तथा मेरा मांस भी आपके लिए अखाद्य ही है, इसके बावजूद आपने यह निंद्य कृत्य क्यों किया? आप यदि रावण का वध करके सीता को वापस पाने के लिए मेरे वध द्वारा सुग्रीव की मैत्री पाना चाहते थे तो आपको मुझसे कहना चाहिए था। मैं एक ही दिन में रावण और सीता दोनों को आपके समक्ष खड़ा कर देता। आप इक्ष्वाकुवंशी राजकुमार हैं, उत्तम कुल में पैदा हुए राजा ऐसा पापकृत्य नहीं करते। मुझे दु:ख अपनी मृत्यु का नहीं, बल्कि आपके अधर्म का है।''

इसके प्रत्युत्तर में राम ने जो कहा है, वह राम के जीवन के जो दो सबसे अगम्य लगते बचावनामे हैं, उनमें से एक है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम यहाँ जैसे किन्हीं उचित शब्दों की खोज में हों, इस तरह बाली को उत्तर देते हैं : ''हे वानर, इस पृथ्वी पर भरत का राज्य है और भरत ने हमें और अन्य राजाओं को भी ऐसा आदेश दिया है कि जहाँ कहीं भी धर्मविरुद्ध आचरण हो रहा हो, वहाँ धर्म की पुनर्स्थापना करें और अधर्मी का वध करें। तुमने जीवन में काम को प्राधान्य दिया है। राजा के लिए जो उचित हो, ऐसे मार्ग पर तुम रहे नहीं। तुमने सदैव धर्मविरुद्ध आचरण किया है और तुम्हारे निष्ठुर कर्मों की सत्पुरुषों ने हमेशा निंदा की है (जबकि बाली के ऐसे किसी आचरण का एक भी दृष्टांत रामायण में नहीं मिलता। राम के प्रति संपूर्ण सम्मान के साथ कहना चाहिए कि उनका तर्क भेड़िए और मेमने की उस पंचतंत्र की कथा जैसा लगता है।)

''तुमने सुग्रीव के जीवित रहते उसकी पत्नी रूमा, जो कि तुम्हारी पुत्रवधू के समान है, के साथ सहवास किया है। (इससे पूर्व ही सुग्रीव ने भी बाली की पत्नी, जोकि माता-समान मानी जानी चाहिए, उसके साथ बाली के जीवित रहते ही सहवास किया था। इसमें मूल बात सहवास की होने से अधिक उसके पति के 'जीवित रहते' शब्दों पर जो

जोर दिया गया है, वह ध्यान देने योग्य है। संभवत: वानरजाति में पति की अनुपस्थिति यानी कि उसके अवसान के बाद देवर बैठा लेने या जेठ बैठा लेने की कोई सामान्य प्रणाली रही हो!) तुम्हारे उस पापाचार को मेरे जैसे उत्तम कुल में उत्पन्न हुए क्षत्रिय सहन नहीं कर सकते। उसके अलावा मित्र पर उपकार करना धर्म है और इस धर्मानुसार ही मैंने अपने मित्र सुग्रीव का यह काम किया है। (धर्म शब्द का यह विनियोग और अर्थघटन भारी आश्चर्यजनक लगता है।) इसके उपरांत मैं क्षत्रिय राजा हूँ और हमारे लिए जाल बिछाकर, फंदे फैलाकर तथा गड्ढे खोदकर, गुप्त वेश में छिपकर पशुओं का शिकार करने में कोई अधर्म नहीं। असावधान और भाग रहे पशुओं का शिकार करें तो इसमें कोई दोष नहीं। धर्मज्ञ राजा इस प्रकार मृगया खेलते ही हैं और तुम भी एक प्रकार के शाखामृग ही हो, इसलिए तुम मेरे साथ युद्ध न कर रहे हो तो भी तुम्हें मारने में कोई अधर्म नहीं। राजा तो देवता है और तुम्हारे जैसों को उसकी निंदा नहीं करनी चाहिए।'' (मध्ययुग के यूरोप की Divine theory of king इतिहास के विद्यार्थियों को यहाँ याद आती है।)

राम के स्पष्टीकरण के बाद बाली मानो तत्काल अपनी भूल समझ जाता है और तुरंत ही अपना वध करने के राम के अधिकार को स्वीकार भी कर लेता है। इतना ही नहीं, राम के हाथ से मृत्यु हो, इसके लिए वह तारा के विरोध के बावजूद सुग्रीव से लड़ने के लिए आया था, ऐसा गले न उतरनेवाला स्पष्टीकरण भी देता है। मृत्यु के पूर्वक्षण में बाली ने राम से विनती की है कि अब के बाद से आप सुग्रीव और अंगद के प्रति भरत और लक्ष्मण जैसा ही व्यवहार रखिएगा। पति की देह पर विलाप करती पत्नी को भी उसने इसी तरह सांत्वना दी। सुग्रीव को उसने अंगद की देख-रेख करने के लिए कहा। दोनों भाई साथ मिलकर प्रेमपूर्वक सुख नहीं भोग सके, यह हमारे पूर्वजन्म का कोई पाप होगा, ऐसा भी वह कहता है। इसके बाद बाली ने प्राण-त्याग किया।

बाली-वध की यह घटना राम-सुग्रीव के बीच की मैत्री करार के संदर्भ में देखनी चाहिए। सीता का हरण होने के बाद वन में उनकी खोज करने के लिए विफल प्रयत्न कर रहे राम-लक्ष्मण के मार्ग में कबंध नाम का एक राक्षस आया है। पूर्वजन्म के एक शाप के कारण राक्षस-योनि में जी रहे और राम के हाथ से मृत्यु प्राप्त कर शापमुक्त हुए इस राक्षस ने स्वर्गगमन से पहले राम को सुग्रीव की मैत्री प्राप्त करने का सुझाव दिया है। जो व्यक्ति दुर्दशा में फँसा हो, उसे अपने जैसे ही अन्य दुर्दशाग्रस्त व्यक्ति की सहायता प्राप्त कर लेनी चाहिए, ऐसा नीतिशास्त्र कबंध ने राम को सिखाया। राम को पत्नी-विरह का दु:ख हुआ है, इसलिए राम को सुग्रीव की सहायता करनी चाहिए और बदले में सुग्रीव की मदद लेनी चाहिए। इतना कहकर कबंध ने राम को ऋष्यमूक पर्वत पर रह रहे सुग्रीव के पास जाने के लिए कहा। इस प्रकार राम अपनी खोज में सहायता प्राप्त करने के लिए ऋष्यमूक पर्वत पर सुग्रीव के पास पहुँचे थे। सुग्रीव ने जब पहली बार दूर से राम को देखा तो उसे भय लगा था। बाली से सतत डरते रहने के कारण ये दोनों मनुष्य भी बाली के भेजे हुए कोई हत्यारे होंगे, इस विचारमात्र से वह काँप उठा था। इसके बाद हनुमान द्वारा राम का परिचय प्राप्त करके सुग्रीव राम से प्रत्यक्ष मिला। राम तथा सुग्रीव के बीच के परिचय के विषय में महाकवि ने जो बात लिखी है, वह किंचित् विचार करने योग्य है।

सर्वप्रथम तो राम सुग्रीव की सहायता प्राप्त कर सीता को पुन: प्राप्त करने के लिए सुग्रीव के पास आए हैं। सुग्रीव का प्राथमिक परिचय जब हनुमान ने राम को दिया तो लक्ष्मण ने इस तरह कहा है—''हम दोनों भाई सुग्रीव की खोज में ही यहाँ आए हैं।'' लक्ष्मण का यह मनोगत जानने के बाद हनुमान ने तुरंत ही मनोमन प्रसन्नतापूर्वक गणित लगाया है कि इन दोनों भाइयों को सुग्रीव से अवश्य ही कोई आवश्यक काम होगा। यदि ऐसा है तो सुग्रीव के काम में भी ये दोनों सहायक हो सकते हैं।

इस प्रकार इस मैत्री का आरंभ ही परस्पर हित के लिए, परस्पर उपयोग करने के विचार से हुआ है। इसके बाद

राम तथा सुग्रीव का जो मिलन हुआ है, उसमें एक-दूसरे के काम की स्पष्टता हुई तथा ये काम अर्थात् बाली-वध करके राम सुग्रीव को राज्य दिलाएँ तथा इसके बदले में सुग्रीव तमाम वानरों की सेना के साथ सीता की खोज करें और अपहरणकर्ता रावण को दंडित करने में सहायता करें—ऐसा स्पष्ट शब्दों में करारनामा हुआ। जब यह मैत्री-संबंध स्थापित हुआ, उस क्षण हनुमान ने अग्नि प्रज्वलित कर इस संबंध को दृढ़ तथा साक्षीभूत किया। महाभारतकार ने मैत्री के जो चार प्रकार बताए हैं, उनमें सहज मैत्री को सर्वोच्च स्थान दिया है। कृष्ण और सुदामा के बीच की मैत्री ऐसी सहज मैत्री कही जा सकती है। राम-सुग्रीव की मैत्री में ऐसा सहजभाव नहीं है। इसमें दूसरे प्रकार की भजभान मैत्री है। इस तरह की मैत्री में दोनों मित्र एक-दूसरे के सहयोग से अपना कोई हित निष्पन्न करना प्रमाणपूर्वक स्वीकार करते हैं और उसके अनुसार निष्ठापूर्वक कार्य करते भी हैं। ऐसा काम सिद्ध हो जाने के बाद प्राय: ऐसी मैत्री का अंत आ जाता है और वह अधिक-से-अधिक सामान्य परिचय तक ही रह जाती है।

राम-सुग्रीव की इस मैत्री के विषय में एक बात जो निर्विवाद रूप से कही जा सकती है, ऐसी है कि इस भजभान मैत्री में आगे चलकर सहजभाव का स्वयंमेव विकास हुआ है। उसमें सुग्रीव ने राम के प्रति जो भक्तिभाव विकसित किया है और राम ने प्रत्युत्तर में जो भक्तिभाव दरशाया है, वह ध्यान देने योग्य है। इसमें सुग्रीव के पक्ष में राम के सामर्थ्य का भय हो, ऐसा भी संभव है; क्योंकि राम ने भी, सुग्रीव ने जब सीता की खोज करने में विलंब किया तो उसे धमकी भरा संदेश भी भेजा है कि जिस मार्ग पर बाली गया है तो वह मार्ग अभी बंद नहीं हुआ है और राम का बाण सुग्रीव को भी उसी मार्ग पर भेज सकता है। युद्ध के दौरान रावण ने सुग्रीव को शत्रुपक्ष से विमुख करने के लिए शुकरूपधारी एक राक्षस को उसके पास भेजा था तो सुग्रीव ने उसे दुत्कार दिया था। इतना ही नहीं, उसने रावण-वध के राम के अभियान में पूर्णत: राम के साथ ही रहने की बात कही है।

बाली के प्रति भारी रोष और वैर होने के बावजूद बाली जब राम के बाण से मृत्यु को प्राप्त होता है तो सुग्रीव के मन में, उसने जो कृत्य किया था, उसके लिए पारावार पश्चात्ताप भी हो रहा हो, ऐसा लगता है। राम ने तो अपने दिए वचन को पूरा करके मैत्रीधर्म निभाया है, परंतु ऐसा वचन राम से लेकर सुग्रीव तो स्वयं निंदनीय ही बन गया है, ऐसा कहकर वह विलाप करता है। बाली जैसे भाई का इस तरह वध करके राज्य प्राप्त करने से तो ऋष्यमूक पर्वत पर निष्कासित अवस्था में जीवन व्यतीत करना ही अच्छा था, ऐसा वह कहता है। भूतकाल में बाली ने सुग्रीव की पराजय के क्षण में उसका वध नहीं किया था, बल्कि जीवित ही चले जाने दिया था। इसके बावजूद उसने बाली के इस उपकार का बदला उसका वध करके चुकाया, जो निश्चित ही लोकनिंदनीय व पापकर्म है, ऐसा कहकर सुग्रीव राम से अग्निप्रवेश करने की अनुमति माँगता है।

महाभारत का युद्ध जीतने के बाद युधिष्ठिर ने जो मनोव्यथा व्यक्त की थी, उसी प्रकार की यह व्यथा है। युधिष्ठिर को कृष्ण ने उचित सांत्वना दी थी। उसी प्रकार यहाँ सुग्रीव को राम धर्म के विषय में उपदेश देते हैं। राम की सांत्वना प्राप्त करने के बाद सुग्रीव बाली का अंत्येष्टि संस्कार करता है। किष्किंधा में प्रवेश कर राज्य की बागडोर सँभालता है और राजकुमार अंगद का युवराज पद पर अभिषेक करता है। किष्किंधा के वानरों की परंपरा के अनुसार सुग्रीव तारा को अपनी पत्नी भी बनाता है।

अप्रत्याशित रूप से प्राप्त हुआ सुखोपभोग मनुष्य को किस प्रकार कर्तव्य- विमुख कर देता है, इसका ज्वलंत उदाहरण सुग्रीव ने राज्य प्राप्त करने के बाद तुरंत ही प्रस्तुत किया है। सीता को खोजने का राम को दिया वचन पूरा न करने की उसकी कोई वृत्ति नहीं। राम के प्रति स्नेह और आदर भी यथावत् है। सीता की खोज के काम में जो संभावित विघ्न हैं, उनमें से छूटकर निकल जाने की कोई इच्छा नहीं। इस प्रकार, पूरी समानता होने के बावजूद इंद्रियगम्य सुखों का मार्ग कैसा फिसलन भरा है और लंबे अंतराल के बाद प्राप्त हुआ ऐसा सुख कैसा प्रलोभनकारी

होता है, इसका उदाहरण सुग्रीव ने दिया है। वर्षा ऋतु बीतने के बाद भी सीता की खोज का काम जिस प्रकार हाथ में लेना चाहिए और प्रश्रवण गिरि पर निवास कर रहे राम को इस काम के संबंध में अवगत कराना चाहिए, इसमें सुग्रीव को प्रमाद हो जाता है। प्रमाद के परिणाम-स्वरूप राम का धमकी भरा संदेश लेकर आए क्रोधित लक्ष्मण का सामना सुग्रीव नहीं कर पाता। लक्ष्मण का आगमन हो रहा है, ऐसा संदेश मिलने के बावजूद सुग्रीव तारा और रूमा के साथ ही विलसित दशा में पड़ा था। वह उसमें से तत्काल मुक्त नहीं होता। खुद राजकुमार अंगद ने आकर लक्ष्मण के रोष से सुग्रीव को अवगत कराया तो भी उसकी आँख नहीं खुलती। मृत्यु सन्मुख हो तो भी मनुष्य का चित्त विलास की कोमल अवदशा को तज नहीं सकता, यह उसके चित्त की दुर्बलता का द्योतक है। जिस प्रकार निद्रस्थ कुंभकर्ण को जाग्रत् करने के लिए प्रचंड शोर करना पड़ा था, उसी प्रकार विलास के उन्माद में डूबे सुग्रीव को सभान करने के लिए उसके महल के बाहर सैकड़ों वानरों ने जब आक्रोश किया तब ही वह जाग्रत् हुआ और लक्ष्मण को रोष भरी मुद्रा में देखकर भय से काँप उठा। भय के कारण वह लक्ष्मण के सन्मुख खड़ा नहीं होता, पर पत्नी तारा को लक्ष्मण के पास भेजकर उनके क्रोध को शांत करने का प्रयास करता है। विकट परिस्थिति में मनोविज्ञान का सहारा लेकर उबर जाने की यह युक्ति सुग्रीव की सूझ-बूझ की द्योतक है।

सीता की खोज के लिए चारों दिशाओं में जा रहे वानरों को सुग्रीव ने किस दिशा में कौन से प्रदेश, पर्वत, भूखंड आदि आएँगे, उसकी विस्तृत जानकारी दी है। चारों दिशाओं की ऐसी सूक्ष्म जानकारी उसने कैसे प्राप्त की, राम द्वारा ऐसा पूछे जाने पर प्रत्युत्तर में सुग्रीव ने कहा है कि बाली के भय से जब वह सुरक्षित आश्रय पाने के लिए वनों में परिभ्रमण कर रहा था, उस दौरान उसने इन सभी प्रदेशों को देखा था।

सुग्रीव युद्ध के बाद अयोध्या में राम के राज्याभिषेक के अवसर पर उपस्थित रहा है। इतना ही नहीं, अश्वमेध-यज्ञ में भी वह उपस्थित हुआ था। राम जब देहलीला समाप्त कर स्वधाम गए तो उनके साथ जो गए हैं, उनमें सुग्रीव का भी समावेश है।

बाली, सुग्रीव तथा तारा इन तीनों ही पात्रों के आस-पास बुनी हुई घटनाएँ तत्कालीन आर्यावर्त्त में प्रवर्तमान एक विशेष प्रकार की प्रजा और उसके संस्कारों के विषय में हमें अवगत कराती हैं। पुनरुक्ति मोल लेकर भी यहाँ यह कहना चाहिए कि इस प्रजा को हमारे रूढ़ अर्थ में पूँछधारी वानरों के साथ नहीं रखा जा सकता है। बाली, सुग्रीव, हनुमान, तारा, अंगद—ये सभी वानर वेद-वेदांत सहित ज्ञान के अधिकारी थे। अत्यंत रसप्रद जो अन्य एक बात ध्यान में रखी जानी चाहिए, वह यह है कि किष्किंधा नगरी का वर्णन करते समय महाकवि ने नगर की स्त्रियों के लिए कहीं भी 'वानरी' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। लंका का वर्णन करते समय 'राक्षसी' शब्द का भरपूर प्रयोग हुआ है। परंतु किष्किंधा की स्त्रियों को कवि कहीं भी वानरी नहीं कहता। उसके लिए स्त्रियाँ, रमणियाँ, सुंदरियाँ—जैसे ही मानव- स्त्रियों के लिए प्रयोग किए जाने वाले शब्दों का ही प्रयोग किया गया है।

❑

—१०—
अहिल्या

रामायण में ऐसे कई पात्र हैं, जिनके योगदान से रामकथा के घटनाक्रम में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं होता। ये पात्र कोई वैसी महत्त्व की भूमिका भले ही नहीं निभाते, पर उनका कथानक और उस कथानक में प्रकट होते संकेत एक से अधिक संदर्भों में जाँचने लायक रहे हैं। ऐसे पात्रों में जो चार-पाँच पात्र मुख्यत: रहे हैं, उनमें अहिल्या, तारामती, शबरी, स्वयंप्रभा और मंदोदरी को गिनाया जा सकता है। इनमें स्वयंप्रभा के विषय में ऐसा निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उसने सीता की खोज के लिए हनुमान को लंका तक पहुँचाने में अवश्य सहायता की थी। हताश हुए हनुमान सहित अंगद आदि वानरों को स्वयंप्रभा ने ही दिशा बताई थी और उसी दिशा में हनुमान को सीता की खोज में सफलता मिली थी। स्वयंप्रभा के इस योगदान को अपवादस्वरूप छोड़ दें तो अन्य महिला पात्रों ने रामायण के घटनाक्रम में कुछ योगदान किया हो, ऐसा कहना कठिन है। अहिल्या, तारामती, शबरी और मंदोदरी—ये ऐसे पात्र हैं, जिनके साथ जुड़ी कथाएँ रामकथा के संदर्भ में कोई विशेष मूल्य नहीं रखतीं। अत: ये कथाएँ जैसी हैं, उन्हें वैसी ही देखने या मूल्यांकित करने के बजाय उन्हें उनके सांकेतिक संदर्भों में समझने की जरूरत है।

एक दूसरी महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय बात यह है कि हमारी सांस्कृतिक परंपरा में पाँच महिलाओं को प्रात: स्मरणीय नामों के रूप में उल्लिखित किया जाता है। इन पाँचों के नाम इस प्रकार हैं—अहिल्या, द्रौपदी, सीता, तारामती और मंदोदरी। इन पाँच प्रात: स्मरणीय पात्रों में चार तो रामायण के ही पात्र हैं। इन पाँचों की साम्यता पर दृष्टिपात करें तो इनमें अहिल्या, द्रौपदी और सीता अयोनिजन्मा हैं। इतना ही नहीं, इनमें आर्य, अनार्य, राक्षस, वानर जैसा जाति या वर्ण का भेद नहीं है। अहिल्या, द्रौपदी और तारा—ये तीनों स्त्रियाँ तो एक से अधिक पुरुषों को पति अथवा प्रेमी के रूप में स्वीकार कर चुकी हैं। इस तरह सती के विषय में हमारे रूढ़ व परंपरागत विचार को धक्का लगे, यह ऐसी बात है।

इस पार्श्वभूमि के साथ रामायण का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पात्र कहा जा सके, ऐसे अहिल्या के कथानक को हम उसके सूचितार्थों के साथ समझने का प्रयास करेंगे।

अहिल्या शब्द का अर्थ मूलत: 'हल' शब्द से जुड़ा हुआ है। 'हल' शब्द का प्रयोग हम खेती-बाड़ी में काम आने वाले 'हल' नामक औजार के लिए तो करते ही हैं, पर इसका एक अन्य अर्थ 'निंद्य' भी होता है। रामायण के उत्तरकांड में स्वयं ब्रह्मा ने अहिल्या की उत्पत्ति के विषय में बात करते हुए कहा है कि यहाँ अहिल्या अर्थात् जो अनिंद्य है वह। ब्रह्मा ने संपूर्ण सृष्टि की रचना करने के बाद एक सर्वोत्तम सृजन के लिए जो निर्माण किया, वह अहिल्या रूपी कन्या बना। इस कन्या में ब्रह्मा ने सौंदर्य के उत्तम अंशों के साथ प्रेम, भक्ति, समर्पण, त्याग जैसे तमाम उत्तम मानवीय गुणों का मिश्रण किया। ऐसी रचना स्त्री के रूप में ही संभव हो सकती है, क्योंकि सौंदर्य और प्रेम का संमिश्रण स्त्री के अलावा अन्यत्र कहाँ मिल सकता है? इस कन्या की रचना करने के बाद ब्रह्मा ने उसे गौतम ऋषि के सुपुर्द किया। गौतम भी ऐसे ही विधायी गुणों से संपन्न पवित्र पुरुष थे। इस कन्या को उन्होंने ब्रह्मा की धरोहर के रूप में सँभालकर रखा और संस्कारित किया। इस बीच सौंदर्य और समृद्धि के सदैव आग्रही देवराज इंद्र की दृष्टि इस अनिंद्य सुंदरी पर पड़ी तो उसे पत्नी के रूप में पाने की लालसा हुई। परंतु उनकी यह लालसा अधूरी रह गई, क्योंकि बाद में ब्रह्मा ने अहिल्या का दान गौतम ऋषि को ही पत्नी के रूप में कर दिया। गौतम ऋषि ने पूरी पवित्रता के साथ ऐसी सुंदर कन्या को भी अपने पास ब्रह्मा की अमानत के रूप में इतने वर्ष सँभालकर रखा,

इससे ब्रह्मा प्रसन्न हुए और ऐसा परम सौंदर्य तो ऐसे पवित्र भाव के लिए ही योग्य कहा जाएगा, ऐसा मन में विचार कर उन्होंने यह कन्या गौतम को पत्नी के रूप में सौंप दी।

अपनी वासना-तृप्ति में निष्फल हुए देवराज इंद्र ने इसके बाद एक अवसर खोज निकाला। महर्षि गौतम एक दिन प्रात:काल स्नानार्थ नदी-तट पर गए तो इंद्र ने गौतम का रूप धारण कर आश्रम में प्रवेश किया। यह कथा रामायण के बालकांड में सर्ग ४८ और ४९ में आलेखित है।

ताड़का-वध के बाद विश्वामित्र का यज्ञ राम ने पूर्ण कराया। यज्ञ की पूर्णाहुति के तुरंत बाद ही वे दोनों शिष्यों राम तथा लक्ष्मण को लेकर अयोध्या वापस लौटे। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि विश्वामित्र जिस मार्ग से राम और लक्ष्मण को अपने आश्रम में ले गए थे, उस मार्ग से वापस नहीं लौटे। अयोध्या की वापसी-यात्रा का मार्ग बदलने के पीछे विश्वामित्र का क्या उद्देश्य रहा होगा, इसकी अवधारणा, इस वापसी-यात्रा में जो अनुवर्ती घटनाएँ घटित हुई हैं, उनके ऊपर से की जा सकती है। विश्वामित्र जब मिथिला की सीमा के निकट आ पहुँचे तो एक निर्जन आश्रम को देखकर राम ने उसके बारे में जिज्ञासा प्रकट की। इसके उत्तर में विश्वामित्र ने राम को अहिल्या का यह कथानक सुनाया है।

गौतमरूपधारी इंद्र अहिल्या के पास पहुँचा तो पर उसने अपनी पहचान नहीं छिपाई। अहिल्या के साथ दैहिक संबंध के लिए गौतम का रूप धारण करके आया वह देवराज इंद्र है, ऐसी स्पष्ट जानकारी के साथ प्रसन्नचित्त से उसको स्वीकार भी किया है। (यद्यपि इसमें रामायण का ही उत्तरकांड का कथानक भिन्न है। उत्तरकांड के कथानक के अनुसार अहिल्या इंद्र को पहचान नहीं सकी और अनजाने में ही उसने सहचार में साथ दिया था।) समागम के अंत में संतुष्ट इंद्र से अहिल्या ने कहा है—''हे देवेश्वर, अब महर्षि गौतम के कोप से बचने के लिए आप शीघ्रातिशीघ्र यहाँ से प्रस्थान करें।'' मगर इंद्र प्रस्थान करते, इससे पहले ही गौतम वहाँ पहुँच गए और भयभीत इंद्र की मुखाकृति का भाव देखते ही सबकुछ समझ गए। कमंडलु में से जलांजलि लेकर उन्होंने रोषपूर्वक इंद्र को शापित किया—''हे पापाचारी! तू अंडकोषों से रहित हो जा!'' शाप के परिणाम से इंद्र तत्काल अंडकोष रहित हो गया। इसके बाद ऋषि ने अहिल्या को भी शापित किया—''हे दुराचारिणी! तू भी इस पाप की सहयोगिनी है, इसलिए अब से तेरा सौंदर्य कोई नहीं देख सकेगा और वर्षों तक अन्न आदि पाए बिना यहाँ एकाकी अवस्था में पड़ी रहेगी। राम के आगमन के बाद तेरी मुक्ति होगी और तू फिर से पूर्ववत् देह धरकर मेरे पास आ सकेगी।''

कथा कहती है कि अंडकोष-रहित हुए इंद्र ने देवलोक में जाकर देवताओं से कहा कि गौतम को कुपित करके उनका तपोबल भ्रष्ट करने के लिए ही मैंने ऐसा किया था, क्योंकि गौतम का तप ऐसी ऊँची कक्षा में पहुँच गया था कि वे देवों का राज्य हस्तगत कर सकते थे। वह तो देवलोक का यह हित लक्ष्य में रखकर जो कुछ करने गए थे, उसी का भोग बने हैं। इंद्र की यह बात सत्य मानकर देवताओं ने इसका निराकरण खोजा और बकरे के अंडकोष को इंद्र की देह में पुन: स्थापित करके शाप के कारण जो त्रुटि आ गई थी, उसे दूर किया।

राम ने जब इस आश्रम में प्रवेश किया तो उनके संस्पर्श की अनुभूति से राख के ढेर के बीच समस्त संवेदनाएँ खो बैठी और उपवासी व अदृश्य अहिल्या अपने शाप से मुक्त हुई और अपने पूर्वस्वरूप में पुन: प्रकट हुई। राम ने उसका चरण-स्पर्श किया और अहिल्या ने उनका यथोचित सत्कार किया। इसमें गौतम के शाप से अहिल्या शिला यानी पत्थर बन गई, ऐसा कोई उल्लेख नहीं हुआ है। शिला बन जाने की यह बात विशेषत: अनुवर्ती रामायणों में ही देखने को मिलती है। इसका रहस्य संभवत: यह भी हो सकता है कि मनुष्य की चेतना उसकी इंद्रियाँ द्वारा ही प्रकट होती है। अहिल्या का दर्शनीय रूप भी ये इंद्रियाँ ही थीं और उसके स्खलन का कारण भी ये इंद्रियाँ ही कही जाएँगी। गौतम ने उसे अदृश्य और संवेदना-रहित कर दिया। अब वह इंद्रियगम्य नहीं रही। इतना ही नहीं, उसकी

इंद्रियाँ भी प्रकृति के किसी भी धर्म को पहचान पाने में समर्थ नहीं रहीं। ऐसा जीवन एक प्रकार से शिला-स्वरूप की कहा जाएगा।

इस घटना को, जैसी है वैसा ही देखने के बदले, उसके कुछ सूचितार्थ समझ लेने चाहिए। उत्तरकांड में ब्रह्मा ने एक दूसरी बात भी कही है कि जो सौंदर्य पवित्रता के साथ संलग्न होकर नहीं रहता, वह सौंदर्य व्यर्थ है। इसलिए अहिल्या के इंद्र के साथ के समागम के बाद अब तक सृष्टि का जो समग्र सौंदर्य ब्रह्मा ने अहिल्या में ही सीमित रखा था, उसे मुक्त कर दिया और असंख्य स्त्रियाँ इसके बाद ऐसा सौंदर्य धारण कर सकेंगी, ऐसी व्यवस्था की। इतना ही नहीं, यहाँ ऐसा भी कहा गया है कि अहिल्या के साथ का इंद्र का व्यवहार सृष्टि के सृजन के बाद का सबसे पहला जारकर्म था। इस पापाचार के कारण अनुवर्ती घटनाओं में इंद्र रावण के पुत्र मेघनाद के हाथों पराजित हुआ और बंदी भी बना। मेघनाद इस तरह इंद्रजित कहलाया और ब्रह्मा की कृपा से वरदान के बदले में उसने इंद्र को जीवनदान दिया। कथा तो ऐसी भी है कि सृष्टि के इस पहले जारकर्म का पाप इंद्र इसके बाद आज भी भोग रहा है। प्रत्येक जारकर्म में जो पाप होता है, उसका आधा भाग इंद्र को भोगना पड़ता है, ऐसा कथानक भी यहाँ मिलता है।

सौंदर्य और पवित्रता के बीच की कड़ी जब टूट जाती है तो अनर्थ होता है। सौंदर्य पर दृष्टिपात करनेवाले के चित्त में भी यदि ऐसे भ्रष्ट व्यवहार की वासना उत्पन्न हो तो उससे भी संतुलन बिगड़ जाता है। सौंदर्य अपने सामान्य व्यवहार में पवित्र रहे, इतना ही पर्याप्त नहीं है। इंद्र की अनुपस्थिति में अहिल्या पवित्र तो थी, पर इंद्र का आकर्षण, एक क्षण के लिए ही सही, गौतम की तुलना में बलबत्तर सिद्ध हुआ, इसलिए इस अनिंद्य सौंदर्य का पतन हुआ, ऐसा ही कहा जाएगा। अहिल्या को पत्नी रूप में प्राप्त करने से पहले गौतम ने वर्षों तक पवित्रभाव से ही उसे सँभाला था। गौतम की उच्च भावना और सिद्धि के अनुलक्ष्य में ही इस अनुपम सुंदरी को ब्रह्मा ने गौतम को पत्नी के रूप में प्रदान किया था। इस प्रकार सौंदर्य स्वयं ही पवित्र रहे, इतना ही पर्याप्त नहीं, उसे प्राप्त करने के लिए भी पवित्र रहना अनिवार्य है। इसमें जब विक्षोभ उत्पन्न होता है तो इंद्रियाँ बधिर हो जाएँ, ऐसा अन्यमनस्क (शून्यमनस्क) जीवन व्यतीत करना पड़ता है। इस शून्यता का अंत लंबे अंतराल के बाद किसी अधिक पवित्र संस्पर्श से हो सकता है, परंतु उसके लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

अंत में राम द्वारा हुए इस अहिल्या-उद्धार का मर्म राम के जीवनमार्ग में क्या हो सकता है, इस पर भी दृष्टिपात करें। जानकी जैसी दिव्य कन्या की प्राप्ति से पूर्व राम ने जीवन में दो स्त्रियों के साथ जाने-अनजाने व्यवहार स्थापित किया है। पहला प्रसंग ताड़का-वध का है और दूसरा प्रसंग अहिल्या-उद्धार का है। ताड़का दुराचारी है, पापाचारी है, हिंसाचारी है। उसके सभी अवगुण संस्कार प्रदत्त हैं। यह कोई क्षणिक विभावना नहीं। संस्कार प्रदत्त पापाचार, भले वह स्त्री हो या पुरुष, सदैव वध्य है। ताड़का मात्र स्त्री होने से देह की लाक्षणिक रचना के कारण पापाचार की अधिकारिणी नहीं हो सकती। स्त्री होते हुए भी उसका वध राम ने किया है। यह वध पाप का संहार था। यह पाप किस देह में बसता था, यह तो निरा निमित्त था। अहिल्या ने भी पाप तो किया ही था, पर उसके पाप की ताड़का के पाप के साथ तुलना नहीं की जा सकती। मानव सहज दुर्बलता का एक क्षण भी तप और पवित्रता की उच्च कक्षा को स्खलित कर डालता है। ऐसे एक-दो स्खलन से मूलभूत प्रकृति की पवित्रता को हमेशा के लिए नष्ट नहीं किया जा सकता। इसमें न्याय और औचित्य नहीं। राम ने इस दूसरे पाप के संस्पर्श के कारण इंद्रियशून्य और बधिर बन गई अहिल्या के व्यक्तित्व से लिपटे पड़े पाप के पपड़ों को हटा दिया और पूर्ववत् पवित्रता की पुनर्स्थापना की। नारी की देह के साथ संलग्न विशिष्ट परिस्थिति के पाप के इन दोनों अंतरों को जो विश्वामित्र जैसे गुरु की कृपा से अच्छी तरह समझ सकता है, वही सीता जैसी कन्या को प्राप्त करने का अधिकारी हो सकता है। विश्वामित्र के चित्त

में राम को ऐसी प्राप्ति का पात्र बनाने के पूर्व क्षमता का यह पाठ सिखाने का ही उद्देश्य रहा हो, ऐसा लगे बिना नहीं रहता।

❑

—११—
तारा

अहर्निश जिसके नाममात्र का स्मरण करने से आयु की वृद्धि और कामनाओं की सिद्धि होती है, ऐसा कहा गया है कि उन पाँच प्रातः स्मरणीय नारियों में बाली की पत्नी तारा का नाम भी है, यह जानकर निश्चित ही आश्चर्य होता है।

अहिल्या, द्रौपदी, सीता, तारा मंदोदरी तथा
पंचकम् नाम स्मरे नित्यम् आयुः कामार्थ सिद्धये।

अहिल्या के कथानक में जो सारगर्भित सूचितार्थ हैं, ऐसी कोई अर्थच्छाया तारा के कथानक में से ढूँढ़ निकालना कठिन है। इसके बावजूद रामायण के स्त्री पात्रों के बीच तारा का एक विशेष स्थान है और इस विशेष स्थान के कारण ही तारा रामायण के अध्ययनकर्ताओं का सहज ही ध्यान खींचती है।

तारा वानर यूथपति सुषेण की पुत्री है। इस सुषेण ने सीता की खोज के अभियान में हनुमान तथा अंगद के साथ रहकर दक्षिण दिशा में प्रयाण किया था। इतना ही नहीं, बल्कि समुद्र का उल्लंघन करने के बाद हनुमान ने अपने सिवा जो महाबलिष्ठ वानर लंका में प्रवेश कर सकें, उनके नाम गिनाए हैं, उनमें इस सुषेण वानर का नाम भी प्रमुख स्थान पर है। राम के बाण से बिंधकर मृत्यु को प्राप्त हो रहे बाली ने प्राण त्यागने से पूर्व सुग्रीव से तारा के विषय में जो संस्तुति की है, उसमें तारा की बुद्धि प्रतिमा तथा व्यक्तित्व प्रकट हुए हैं। बाली ने कहा है—''यह सुषेण की पुत्री तारा सूक्ष्म विषयों का निर्णय करने में और विविध प्रकार की आपत्तियों को पहचान लेने में अत्यंत निपुण है। यह जिस कार्य को उचित कहे, वह निश्शंक भाव से करने लायक होता है। तारा की किसी भी सम्मति का परिणाम विपरीत नहीं आता।'' किसी भी मरणोन्मुख पति द्वारा अपनी अंतिम श्वास के साथ किया गया पत्नी का स्मरण इससे अधिक गौरवप्रद नहीं हो सकता।

बाली की पत्नी और किष्किंधा की रानी तारा का स्थान सम्मानपूर्ण रहा होगा, ऐसा लगता है। उस समय हनुमान ने उसे जो सांत्वना दी है, उसमें भी तारा के विषय में ऊँचा अभिप्राय दरशाया है। तारा राजकाज में भी तीक्ष्ण दृष्टि से सब निरखती रही होगी, ऐसा माना जा सके, ऐसा एक संवाद भी मिलता है।

राम की मैत्री प्राप्त कर सुग्रीव जब पहली बार बाली के साथ द्वंद्वयुद्ध करने आता है तब वह पराजित होता है। बाली और सुग्रीव के बीच के दैहिक साम्य के कारण राम बाली को पहली बार पहचान नहीं पाए थे। दूसरी बार ऐसा न हो, इसके लिए खास प्रकार के पुष्पों की माला पहनकर तुरंत ही सुग्रीव बाली के साथ पुनः लड़ने के लिए आया। अभी-अभी परास्त होकर गंभीर रूप से घायल होने के बावजूद सुग्रीव को इतनी जल्दी पुनः युद्ध के लिए ललकारते देखकर तारा की कुशाग्र बुद्धि में इसका रहस्य समझ में आ जाता है। जिस शत्रु ने अभी-अभी मार खाई हो, वह सहायता की निश्चित गणना या तसल्ली के बिना फिर से इतनी जल्दी युद्ध की चुनौती नहीं देता। किष्किंधा के गुप्तचरों ने अयोध्या के दो राजकुमार दक्षिण के इस प्रदेश में विचरण कर रहे हैं तथा ये दोनों महाबलिष्ठ और योद्धा हैं, इसकी जानकारी तारा को दी थी। तारा की कुशाग्र बुद्धि सुग्रीव की दूसरी बार की गई इस चुनौती को अयोध्या के इन राजकुमारों का पीठबल मिला होगा, ऐसा तर्क करती है। यदि ऐसा हुआ हो तो बाली की पराजय निश्चित है, इस आशंका के साथ तारा बाली को सुग्रीव के साथ पुनः युद्ध करने की बजाय संधि कर लेने का सुझाव देती है। सुग्रीव भी किष्किंधा का राजकुमार और युवराज पद पर स्थापित होने के कारण राज्य का उत्तराधिकारी है, इसलिए भूतकाल भूलकर उसको प्रेमपूर्वक स्वीकार करें, इसी में दोनों भाइयों का कल्याण है, ऐसी

समझदारी की बात वह पति से करती है। (राम के राज्याभिषेक के प्रसंग में भरत की अनुपस्थिति में राजा दशरथ ने जो शीघ्रता की थी, उसका मर्म सर्वप्रथम मंथरा समझ गई थी। अपनी परख की यह बात उसने कैकेयी के समक्ष प्रकट भी की थी। तुलना के किसी भी आशय के बिना कहा जा सकता है कि सुग्रीव को राम की अप्रत्याशित सहायता मिली होनी चाहिए और यह सहायता बाली के लिए विघातक साबित हो सकती है, इसका अंदेशा तारा को हुआ था।) सुग्रीव बाली का छोटा भाई है और दोनों के बीच इस समय भले अनबन हो, पर भ्रातृप्रेम सदैव यथावत् ही रहता है; इसलिए तारा वैर-भावना छोड़कर सुग्रीव और उसके साथ ही राम का प्रेम भी प्राप्त करने की प्रार्थना करती है।

बाली के वध का समाचार सुनकर जब किष्किंधा के अन्य वानर भयभीत हो गए तब तारा निर्भयता से रणभूमि में पहुँच गई और पति की मृत देह के पास विलाप किया। बाली को उसने यहाँ आर्यपुत्र कहकर संबोधित किया है, यह ध्यान देने योग्य है। वानर जाति भी आर्य-परंपरा का एक अंश हो, ऐसा सूचितार्थ इसमें से मिलता है। इस विलाप में बाली ने छोटे भाई के साथ संधि कर लेने की उसकी सलाह नहीं मानी, इसका आघात भी तारा ने प्रकट किया है। इतना ही नहीं, बुद्धिमानी की यह बात बाली ने अपने शौर्य के अभिमान में कान पर नहीं धरी और मृत्यु को आमंत्रित किया, इसे ध्यान में रखकर तारा एक सुंदर तर्क भी करती है। तारा कहती है कि किसी बुद्धिमान व्यक्ति को अपनी पुत्री किसी शूरवीर को नहीं देनी चाहिए, क्योंकि शूरवीर की पत्नी होने के कारण ही उसने आज वैधव्य प्राप्त किया था। राम ने इक्ष्वाकु जैसे उच्च कुल में जनमे होने के बावजूद दूसरे के साथ युद्ध कर रहे बाली को मारकर अत्यंत निंदनीय कर्म किया है—ऐसा भी वह राम से कहती है। बाली स्वर्ग में भी उसके (तारा के) बिना नहीं रह सकता और वह स्वयं भी, भले ही अंगद जैसे सौ पुत्रों की माता हो, फिर भी बाली के बिना जीवित नहीं रहना चाहती। ऐसा कहकर वह राम को एक बाण से अपने प्राण हर लेने की विनती करती है। राम तारा की इस प्रार्थना को स्त्री-वध के पाप के विचार से अस्वीकार न करें, इसलिए तारा ऐसा भी कहती है कि वह तो अपने पति बाली की आत्मा के साथ ही एकरूप हुई है, इसलिए उसका वध तो बाली-वध का ही पूर्णत्व माना जाएगा और राम को स्त्री-हत्या का पाप नहीं लगेगा।

तारा की बुद्धिमत्ता, समझदारी और प्रसंगानुसार निर्णयात्मकता का और एक प्रसंग उसके लक्ष्मण के साथ के संवाद में व्यक्त होता है। बाली की मृत्यु के बाद सिंहासनारूढ़ हुए सुग्रीव ने वर्षा ऋतु समाप्त होने के बाद सीता-खोज का अभियान आरंभ करने का वचन दिया था। राज्य तथा तारा व रूमा (दो पत्नियों) को प्राप्त करने के बाद सुग्रीव ने इस वचन के पालन में शिथिलता दिखाई; फलस्वरूप रोष से भरे राम का संदेश लेकर क्रोधित अवस्था में लक्ष्मण जब किष्किंधा में आए तो उनके आगमन का समाचार जानकर सुग्रीव भयभीत हो गया। लक्ष्मण के आगमन के इस क्षण में वह मदिरापान करके तारा तथा अन्य पत्नियों के साथ विलास में डूबा हुआ था। क्रोधित लक्ष्मण का प्रतिकार करने की क्षमता सुग्रीव में नहीं थी, क्योंकि अपने अपराध-भाव से वह जाग्रत् हो चुका था। लक्ष्मण के क्रोध का शमन करने के लिए सुग्रीव ने तारा का आश्रय लिया और उससे कहा कि तुम लक्ष्मण का स्वागत करने के लिए उनके सम्मुख जाओ और मिठास से बात करके उन्हें प्रसन्न करो। लक्ष्मण तुम्हारी उपस्थिति में क्रोध नहीं करेंगे, क्योंकि महापुरुष स्त्रियों के प्रति कठोर बरताव नहीं करते।

इस प्रकार क्रोधित अवस्था में विहरती पुरुष-प्रकृति स्त्री सान्निध्य में सौम्य हो सकती है, इस मनोविज्ञान का लाभ यहाँ लिया गया हो, ऐसा लगता है। तारा अपनी यह भूमिका बहुत ही कुशलता के साथ निभाती है। लक्ष्मण ने सुग्रीव के विरुद्ध जो शिकायत की, उसके उत्तर में तारा इस शिकायत का कोई प्रतिवाद नहीं करती, पर कोई श्रेष्ठ पुरुष दूसरे किसी हीन प्राणी पर क्रोध करता है तो उसमें उसका श्रेष्ठत्व ही निंदित होता है, ऐसी सुंदर किंतु तार्किक बात

उसने की है। सुग्रीव ने राम के काम को अमल करने में विलंब किया है और सुग्रीव का काम राम ने तुरंत कर दिया था, ऐसा कहकर तारा ने एक ही साथ जैसे दो हेतु सिद्ध किए हों, ऐसा लगता है। सुग्रीव की ओर से अपराध के स्वीकार के साथ क्षमा-याचना और उसके साथ ही राम ने जिस अकारण शीघ्रता से बाली का वध किया था, उसका कटाक्षपूर्ण स्मरण भी इसमें दिखाई देता है। इतना कहने के बाद तारा, सुग्रीव विलास और आसक्ति में डूबा था, यह भी स्वीकार करती है; किंतु सुग्रीव की इस कामासक्ति को अत्यंत दीर्घकाल बाद प्राप्त हुए सुख के कारण उत्पन्न होती प्राणिसुलभ दुर्बलता समझकर लक्ष्मण को उदारचित्त रहना चाहिए, ऐसा भी कहती है।

तारा की यह तर्कशक्ति फलीभूत हुई। लक्ष्मण को मात्र शाब्दिक सांत्वना से शांत नहीं किया जा सकता है, बल्कि कोई ठोस कार्य भी दरशाना चाहिए, यह तारा की जानकारी के बाहर नहीं था, इसीलिए वर्षा के इन महीनों के दरम्यान सुग्रीव ने दूर-सुदूर के प्रदेशों में बसे वानरों को यहाँ बुलाकर शत्रु की शक्ति का अनुमान लगाया है, यह जानकारी भी वह देती है। लंका में रावण की शक्ति के रूप में कितने करोड़ राक्षस बसते हैं तथा ये सभी कितने समर्थ हैं, इसकी जानकारी भी तारा लक्ष्मण को देती है। ऐसे राक्षसों का वध किए बिना सीता को मुक्त नहीं करवाया जा सकता तथा इसके लिए शीघ्रता नहीं, वरन् धैर्यपूर्वक पूर्व तैयारी आवश्यक है, यह भी तारा समझाती है। लंका के विषय में यह जानकारी तारा को इससे पहले बाली से मिली थी। यह सारी जानकारी लक्ष्मण के रोष का शमन करती है।

एक न समझी जा सके, ऐसी भी सबसे अधिक उल्लेखनीय घटना के विषय में भी यहाँ विचार कर लेना आवश्यक है। मायावी राक्षस का वध करने के लिए उसके पीछे गुफा में प्रविष्ट बाली जब एक वर्ष तक वापस नहीं लौटा तो उसे मरा हुआ मानकर सुग्रीव किष्किंधा के सिंहासन पर अभिषिक्त हुआ। इसके थोड़े समय बाद बाली का पुनरागमन हुआ। इस बीच के अंतराल में सुग्रीव ने रूमा के उपरांत बाली की पत्नी तारा को भी पत्नी के रूप में स्वीकार कर लिया है। (किष्किंधाकांड-४६/९)। इस बात का उग्रतापूर्वक असंतोष अंगद ने भी यथासमय हनुमान के समक्ष प्रकट किया है। सुग्रीव के विषय में उल्लेख करते हुए अंगद ने कहा कि ज्येष्ठ भ्राता की पत्नी, जो मातृतुल्य होती है, उसे सुग्रीव ने ज्येष्ठ भ्राता के जीवनकाल में ही जुगुप्सापूर्वक अपनी पत्नी बनाया था।

अंगद के इस कथन में से दो मुद्दे पैदा होते हैं। एक तो ज्येष्ठ भ्राता की पत्नी का इस प्रकार से गृहण करना अधर्म्य है। इसके बावजूद इसमें 'ज्येष्ठ भ्राता के जीवनकाल के दरम्यान ही' शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। हालाँकि ज्येष्ठ भ्राता की पत्नी मातृतुल्य होती है तो ज्येष्ठ भ्राता के जीवित होने या न होने से यह मूल्य बदल नहीं जाता (किष्किंधाकांड-५५/३)। इसके बाद भी राम द्वारा बाली का वध हुआ और सुग्रीव पुनः सिंहासन पर आरूढ़ हुआ, इसलिए तारा ने एक बार फिर सुग्रीव की पत्नी के रूप में स्थान प्राप्त किया है। गुफा में से विजयी होकर बाहर आए बाली ने सुग्रीव को किष्किंधा से निकाल दिया, उसके बाद तारा पूर्ववत् बाली की पत्नी के रूप में स्थापित हुई है। इतना ही नहीं, निष्कासित सुग्रीव की पत्नी रूमा को भी बाली ने अपनी पत्नी के रूप में अपनाना है। इसके बाद फिर एक बार सुग्रीव के राज्यारोहण के बाद रूमा तारा के साथ ही सुग्रीव की पत्नी बनी है। तारा का (और रूमा का भी) यह पुनः-पुनः परिवर्तित होता स्थान विचार प्रेरित करे, ऐसा है तथा किसी स्थापित सिद्धांत से इसका समाधान नहीं हो सकता है।

अनुवर्ती रामायणों में कहीं-कहीं तारा की इस विलक्षण बुद्धि-प्रतिभा तथा निराले व्यक्तित्व के बीच पत्नी के रूप में बदलती वफादारी को समझने की कोशिश अवश्य हुई है। जिंदगी जैसी है, जिस तरह जो प्राप्त होता है, उस तरह से उसे पूरी निष्ठा से और तटस्थ भाव से जीने का संकेत तारा की यह दोहरी भूमिका हमें देती है, ऐसा भी कहा गया है। आर्यों की विभिन्न जातियों में, वनवासी कही जा सके, ऐसी प्रजाओं में, ऐसी कोई सामाजिक प्रथा सहज भाव से

प्रवर्तित हो, ऐसा भी संभव है। ऐसा हो तो भी किसी भी विचारशील, संवेदनशील, विदुषी तथा तर्कपूर्ण स्त्री के लिए इस समाज-व्यवस्था को स्वीकार करना भी अत्यंत कठिन होगा है। इस कठिन अवस्था में भी जो कुछ प्राप्त हुआ है, उस तरफ पूरी निष्ठा और तटस्थ भाव से उसका स्वीकार, ऐसा कोई गर्भित अर्थ संभवत: तारा को उन पाँच प्रात:स्मरणीय नारियों के बीच में रख दे, ऐसा संभव है। (इन प्रात:स्मरणीय नारियों में जिसका उल्लेख हुआ है, वह तारा बाली की पत्नी नहीं बल्कि राजा हरिश्चंद्र की पत्नी तारामती है, ऐसा मंतव्य भी कुछ लोगों का है। हरिश्चंद्र की पत्नी के रूप में भागवत में तारा के नाम का उल्लेख हुआ है।) किंतु हरिश्चंद्र की पत्नी का नाम चंद्रावती था, ऐसा भी अन्यत्र लिखा है। इतना ही नहीं, हरिश्चंद्र का मूल कथानक महाभारत तथा भागवत में है, वहाँ भी चंद्रावती का ही नाम है। हमारे यहाँ यह नाम तारामती के रूप में प्रचलित हुआ है, इसका एक कारण नरसी मेहता का अति प्रसिद्ध भजन होना भी संभव है। 'सुख-दु:ख मन मां न आणिए...' इस पद में नरसी मेहता ने 'हरिश्चंद्र राय सतवादियो, तारालोचनी राणी...' ऐसा कहा है। इसमें तारा यानी सुंदर लोचनोंवाली अर्थ भी अभिप्रेत हो सकता है। पर बाद में तारा अर्थात् हरिश्चंद्र की पत्नी अर्थ प्रचलित हुआ हो, ऐसा संभव है। नरसी मेहता के भजन का लोकमानस पर कैसा प्रचंड प्रभाव था, इसका यह संकेत हो सकता है।

❑

—१२—
विभीषण

महर्षि वाल्मीकि ने विभीषण के पात्र का जो और जैसा चित्रण किया है, उसे रामायण के अध्ययनकर्ताओं और विद्वानों ने दो दृष्टिकोणों से देखा है। एक छोर पर निरा भक्तिभाव है, दूसरे छोर पर भौतिक दृष्टि से ही स्थान-काल का सदैव मूल्यांकन करनेवाला बुद्धिवाद है। इन दोनों दृष्टिकोणों की अपनी मर्यादाएँ हैं। भक्ति का अर्थ हम शरणागति मानते हैं; परंतु यह शरणागति बुद्धिहीन या बुद्धिशून्य व्यक्ति की नहीं होती, बल्कि बुद्धि के शिखर पर पहुँचने के बाद बुद्धि की मर्यादा का साक्षात्कार जिसे हो चुका हो, ऐसे व्यक्ति की समझ भरी भक्ति एक अलग ही बात है। दूसरे छोर पर बुद्धि ही सर्वोपरि है और जो कुछ बुद्धि से समझा या हल न किया जा सके, उसका अस्वीकार या उपेक्षा करना, यह अभिगम बौद्धिक नहीं, बल्कि बुद्धि का वितंडावाद है। विभीषण के पात्र को इन दोनों छोरों से देखने में जोखिम है।

राम की लंका-विजय में हनुमान के बाद यदि सबसे अधिक किसी का योगदान है तो वह विभीषण का है। रावण का वध करने से भी अधिक दुष्कर कार्य था—रावण के पुत्र इंद्रजित का वध करना। रावण तो राम के हाथों पराजित हुआ, इसके पहले बाली या अर्जुन के हाथों पराजित हो चुका था। रावण अपराजित नहीं था। लेकिन इंद्रजित सदैव अपराजित रहा है। इतना ही नहीं, निष्कुंभिकादेवी के मंदिर में अग्नि का शास्त्रोक्त पूजन करने के बाद वह जिस किसी भी युद्ध में उतरे, उस युद्ध में शत्रु का वध करके लौटे, ऐसा वरदान उसे प्राप्त हुआ था। देवी के मंदिर में वह अग्नि की आराधना पूर्ण न कर सके और पूजन अधूरा छोड़कर यदि वह युद्ध में उतरेगा तो यह वरदान उसकी रक्षा नहीं कर सकेगा, ऐसी उसकी शर्त थी। राम के पक्ष में इंद्रजित के इस वरदान की बात विभीषण के सिवा और कोई नहीं जानता था। यह वरदान एक पारिवारिक रहस्य था। इंद्रजित जब युद्ध में उतरने के लिए इस देवी के मंदिर में अग्नि का पूजन कर रहा होता था, उस समय उसे अपनी यह आराधना अधूरी छोड़नी पड़े, तब ही राम की विजय संभव होगी। विभीषण ने यह रहस्य राम के समक्ष प्रकट किया और उसके बाद इंद्रजित का पूजन भंग करवाने के लिए लंकानगरी में जिस दिशा में निष्कुंभिकादेवी का मंदिर था, वह सही स्थान भी विभीषण ने दिखाया। परिणामस्वरूप लक्ष्मण ने अपने बाणों से विघ्न डालकर इंद्रजित की पूजा संपन्न नहीं होने दी। अग्नि की आराधना शास्त्रोक्त विधानानुसार पूर्ण करने से पहले ही लक्ष्मण के आक्रमण के कारण इंद्रजित को उसका प्रतिकार करने के लिए युद्ध में उतरना पड़ा और इसके कारण ही अपराजित इंद्रजित लक्ष्मण के हाथों मारा गया था।

युद्ध में उतरने के समय लक्ष्मण के साथ विभीषण को देखकर इंद्रजित यह षड्यंत्र समझ गया था, इसलिए उसने काका विभीषण को अनेक कटुवचन सुनाए। मातृपक्ष से राक्षस किंतु पिता के पक्ष से ब्राह्मणकुल में जनमे तीन भाइयों में विभीषण सबसे छोटा है। तीनों भाइयों ने पिता विश्रवा की पहली पत्नी से उत्पन्न पुत्र कुबेर का प्रताप स्वयं भी प्राप्त करने के उद्देश्य से जो तपश्चर्या की, उसके फलस्वरूप ब्रह्मा ने उन तीनों को मनचाहा वरदान माँगने के लिए कहा। विभीषण ने जो वरदान माँगा है, उसमें चाहे जैसी भी आपत्ति के बीच वे धर्म-मार्ग से विचलित न हों, ऐसी इच्छा प्रकट की है। यह पितृ-संस्कार प्रकट करता है। परंतु इसके साथ ही विभीषण, जो दूसरी इच्छा व्यक्त करते हैं, उसमें मातृ-संस्कार की गंध आए बिना नहीं रहती। किसी भी प्रकार के विद्याभ्यास के बिना ही उन्हें ब्रह्मास्त्र का ज्ञान हो जाए—ऐसी मंशा भी विभीषण करते हैं। ब्रह्मास्त्र शस्त्रविद्या का अंतिम शिखर है। कोई भी विद्या परिश्रम के बिना प्राप्त नहीं हो सकती, ऐसा स्पष्ट श्रुतिमंत्र है। इसके बावजूद विभीषण ने इस श्रुतिवचन को

भुलाकर ऐसा वरदान माँगा और ब्रह्माजी ने उन्हें यह वरदान दिया भी।

रामायण में विभीषण का सर्वप्रथम उल्लेख शूर्पणखा द्वारा अरण्यकांड में हुआ है। राम पर मोहित हुई शूर्पणखा ने अपना परिचय देते हुए जो बात कही है, उसमें अपने तीनों भाइयों का परिचय इस प्रकार दिया है—''रावण विश्रवा मुनि का वीर पुत्र है। दूसरा भाई कुंभकर्ण महाबलवान है और तीसरा भाई विभीषण राक्षसों के आचार-विचार का पालन नहीं करता, ऐसा धर्मात्मा है।'' इस प्रकार विभीषण के पात्र का प्रथम परिचय ही राक्षसकुल में होते हुए भी राक्षसी व्यवहार से भिन्न है, ऐसा संकेत दे ही देता है। इस संकेत का पहला साक्षात्कार हनुमान जब अशोक वाटिका में इंद्रजित के हाथों पकड़े गए और सभा के बीच रावण ने जब उनका वध करने की घोषणा की, उस समय हमें होता है। विभीषण रावण को यह कदम उठाने से रोक लेता है।

सेतुबंध से पूर्व राम की सेना अभी समुद्र के सामनेवाले तट पर ही थी कि युद्ध के विषय में विचार-विमर्श करने के लिए रावण ने अपने मंत्रियों, सेनापतियों तथा परिजनों को एकत्रित किया था। उस समय सीताहरण के रावण के कृत्य को अनुचित ठहराने और उसका विरोध करनेवाले विभीषण एकमात्र राक्षस नहीं थे। कुंभकर्ण ने भी रावण के परस्त्रीहरण के इस कृत्य को अधम कहकर उसका विरोध किया था। इतना ही नहीं, ऐसा दुष्कृत्य करने से पहले रावण ने राक्षस-सभा में किसी को जानकारी नहीं दी थी, इसलिए उसके परिणाम के लिए उसे अब तैयार रहना चाहिए, ऐसा आक्षेप भी कुंभकर्ण ने लगाया है। माल्यवान् नामक अन्य एक रावण के मातृपक्षीय वरिष्ठ ने भी इस युद्ध से उसे रोकने का प्रयत्न किया। युद्ध शुरू हुआ, उसके पहले शूक और सारण नाम के अन्य दो राक्षसों ने भी रावण को सर्वनाश में से उबर जाने के लिए राम के साथ मैत्री कर लेने का सुझाव भी दिया है।

इन सभी में विभीषण सर्वाधिक आग्रही तथा रावण के लिए कटु रहे हैं। सर्वप्रथम राक्षस-सभा में विभीषण ने नीतिशास्त्र तथा युद्ध के विषय के विविध पहलुओं का उल्लेख करके, यह युद्ध करने लायक नहीं, ऐसी दलीलें दी हैं। राम समर्थ शत्रु हैं, इतना ही नहीं, सीता का हरण करके रावण ने अनुचित कार्य भी किया है, इसलिए युद्ध की बजाय राम के साथ मैत्री करने में ही रावण तथा लंका का कल्याण है, ऐसा मंतव्य विभीषण ने निर्भीकता से व्यक्त किया है। सभा में सार्वजनिक रूप से प्रदर्शित किए गए इस अभिप्राय का रावण पर कोई असर नहीं हुआ, यह जान लेने में विलक्षण बुद्धि के विभीषण को देर नहीं लगी। दूसरे दिन सभा में अधिक विचार-विनिमय हो, उससे पहले ही विभीषण रावण के महल में पहुँच गए और जो बातें सबकी उपस्थिति में कहने लायक नहीं थीं, फिर भी रावण के कानों में पहुँचनी अनिवार्य थीं, वे सभी बातें भी विभीषण ने निर्भीकता और खुले मन से उससे कहीं।

लंका में जो अपशकुन हो रहे थे, वे अमंगलकारी थे और उनसे सेना और प्रजा असमंजस में थी। रावण को इस सत्य से कोई अवगत करा नहीं रहा था। ऐसा कहकर विभीषण ने इन प्राकृतिक संकेतों को लक्ष्य में रखकर युद्ध के लिए उत्सुक न होने के लिए समझाया। इसके बावजूद रावण ने विभीषण की बात पर ध्यान नहीं दिया। इतना ही नहीं, अन्य राक्षसों ने रावण को युद्ध के लिए अधिक उकसाया तो विभीषण ने तीसरी बार भरी सभा में रावण को पहले से ही अधिक स्पष्ट किंतु कठोर वचन कहे हैं। इसमें राम के प्रति विभीषण का अहोभाव तथा रावण के प्रति असंतोष प्रकट हुआ है। राम का प्रतिकार राक्षस-सभा में कोई कर सके, ऐसा है ही नहीं। और रावण तो व्यसनी, अविचारी तथा कठोर स्वभाव का है, इसलिए इस राक्षस-सभा को रावण का इस युद्ध में समर्थन नहीं करना चाहिए, ऐसा भी आग्रह विभीषण करते हैं। देश तथा कुल की रक्षा के लिए जो भी हितकारी हो, उसे कहना तथा करना चाहिए, ऐसा भी वे सभी से आग्रहपूर्वक कहते हैं।

इंद्रजित विभीषण के इन विचारों का विरोध करता है तथा विभीषण भयभीत हो गए हैं, पर वह निर्भीक है, ऐसा कहकर उपहास करता है तो विभीषण ने जो वचन कहे हैं, उनमें समझा-समझाकर थक गए व्यक्ति का असंतुलन

प्रकट होता है। अब तक तर्कबद्ध तथा अपने विचारों की मर्यादा में रहे विभीषण ने भरी सभा में जैसे संतुलन खो दिया हो, इस प्रकार इंद्रजित को अपमानित किया है। विभीषण ने कहा, ''हे इंद्रजित! तू अविवेकी और बुद्धिहीन है। तेरे जैसे दुरात्मा का तो वध ही करना चाहिए। राम की शरण में गए बिना लंका में हममें से कोई नहीं रह सकता।''

विभीषण के ऐसे कठोर वचन सुनने के बाद पहली बार रावण ने विभीषण के विचारों के साथ अपनी असम्मति दरशाई। उसने अपना भाई होने के बावजूद शत्रु की सेवा करने की विभीषण की बात को दुत्कार दिया। इतना ही नहीं, कुपित होकर उसने कहा, ''हे कुल-कलंक निशाचर! तुझे धिक्कार है! तेरे सिवाय किसी और ने यदि यह बात कही होती तो मैं उसे मृत्युदंड देता।'' रावण की यह बात सुनते ही विभीषण ने अपने चार साथियों के साथ सभा-त्याग किया और कहा, ''अब रावण कालग्रस्त हो चुका है, इसलिए मेरी हितकारी बात पर ध्यान नहीं दे रहा है। राम के हाथों तुम्हारा वध न हो, ऐसे शुभाशय के साथ ही मैंने यह सब कहा था। अब मैं तुम्हें छोड़कर जा रहा हूँ।'' ऐसा कहकर विभीषण समुद्र के दूसरे तट पर, जहाँ राम अपनी सेना के साथ थे, जा पहुँचे।

विभीषण ने जिस प्रकार राम के पक्ष में जाना पसंद किया, उससे कुछ प्रश्न अवश्य उठते हैं। कुंभकर्ण भी रावण के कृत्य को अधर्म मानता था। इतना ही नहीं, युद्ध के लिए वह भी उत्सुक नहीं था। इसके बावजूद, रावण तथा लंका पर जब संकट आया है तो उनकी रक्षा करना मेरा कर्तव्य है, यह मानकर वह युद्ध में शामिल हुआ।

महाभारत के ऐसे दो-एक उदाहरण भी हैं, जिनकी तुलना यहाँ करने को मन होता है। बलराम कुरुक्षेत्र के युद्ध में मानसिक रूप से अपने प्रिय शिष्य दुर्योधन के साथ थे। कृष्ण पांडव-पक्ष में हैं, यह जानने के बाद बलराम ने कृष्ण के विरुद्ध दुर्योधन के पक्ष में रहकर युद्ध करने का मार्ग नहीं अपनाया था। उन्होंने तीर्थयात्रा पर जाने का मार्ग चुना और युद्ध में कोई भूमिका नहीं निभाई। वे चाहते तो अपनी शक्ति कौरव-पक्ष में लगा देते और यदि ऐसा होता तो कौरवों की शक्ति अनेक गुना बढ़ जाती। इतना ही नहीं, नि:शस्त्र कृष्ण को अर्जुन का सारथि बनने में भी धर्मसंकट पैदा गया होता। लेकिन बलराम ने ऐसा नहीं किया। कृष्ण को वे भरपूर चाहते थे। कृष्ण किसी विपत्ति में पड़ जाएँ, ऐसा करने की अपेक्षा, इस समग्र घटना से अलिप्त हो जाना ही उन्होंने अधिक उचित समझा।

हस्तिनापुर में भी विदुर इस महायुद्ध के प्रश्न पर महाराज धृतराष्ट्र के साथ नहीं थे। धृतराष्ट्र युद्ध का ऊपर-ऊपर से विरोध करते थे, किंतु कुल मिलाकर वे शठतापूर्वक किसी भी मूल्य पर पांडवों को उनका राज्य लौटाना नहीं चाहते थे। इस प्रकार, युद्ध अनिवार्य हुआ तो विदुर ने उसका विरोध किया; परंतु जब यह विरोध निष्फल गया तो स्वयं जिसे न्याय और धर्म मानते थे, उस पांडव-पक्ष में लड़ने का विचार तक नहीं किया। विदुर हस्तिनापुर के मंत्री थे, इसलिए हस्तिनापुर की रक्षा करना उनका प्रथम कर्तव्य था। यह कर्तव्य यदि निभाया न जा सके तो भी प्रतिपक्ष में तो जाया ही नहीं जा सकता—वहाँ भले ही धर्म और न्याय हो तो भी। कुल और राज्य के प्रति धर्म निस्संदेह बड़ा है और विदुर ने यह धर्म निभाया। बलराम की भाँति विदुर भी अलिप्त हो गए और उन्होंने युद्ध में भाग नहीं लिया।

कुंभकर्ण, बलराम तथा विदुर—ये तीनों प्रेरणादायक उदाहरणों के संदर्भ में विभीषण का पक्षांतर जाँच करने जैसा है। विभीषण धर्मात्मा थे, प्रभुभक्त थे और सत्य एवं नीति के आचरणकर्ता थे—ऐसे तर्क विभीषण के पात्र को उज्ज्वल करने के लिए दिए जाते हैं। प्रभु की शरणागति ही भक्ति के लिए अंतिम गंतव्य स्थान हो सकता है, ऐसा भी रामकथा के संत तथा भक्त कहते हैं। परंतु यदि यह तर्क हम स्वीकार कर लें तो बलराम या विदुर के कदम के विषय में क्या कहा जा सकेगा? बलराम के समक्ष कृष्ण थे और कृष्ण भी परमात्मा के ही अंश थे, ऐसा कहकर कृष्ण के साथ ही उन्हें पांडवों के पक्ष में लड़ना चाहिए। मगर ऐसा नहीं हुआ। इतना ही नहीं, भीम जब अधर्म से दुर्योधन की जाँघ पर गदा से प्रहार करते हैं तो वहाँ उपस्थित बलराम कृष्ण की उपस्थिति में ही ऐसा अधर्माचरण

करनेवाले भीम पर रोषपूर्वक दौड़ पड़े थे। विदुर के विषय में भी ऐसा ही कहा सकता है। इस परिप्रेक्ष्य में विभीषण द्वारा उठाए गए कदम में एक भिन्नता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है, जिसे ध्यान में रखना चाहिए।

विभीषण जब राम के शिविर में आ पहुँचते हैं और वे राम की शरण में आए हैं, ऐसा कहते हैं तो उस समय हनुमान ने विभीषण के इस आगमन का जो मूल्यांकन किया है, वह अद्‌भुत है। विभीषण को स्वीकार किया जाए या नहीं, इस मुद्‌दे पर राम साथी वानरों से गुप्त विचार-विमर्श करते हैं तो हनुमान विभीषण की इस शरणागति के पीछे क्या रहस्य हो सकता है, इसकी बहुत ही विलक्षण किंतु वास्तविक कल्पना करते हैं। हनुमान कहते हैं —''बाली का वध करने के बाद राम ने सुग्रीव का राज्याभिषेक किया था। यह समाचार जानकर विभीषण राज्य प्राप्त करने के लोभ से गणित लगाकर राम के पक्ष में मिल जाने के लिए आया हो, मुझे तो ऐसा ही लगता है।'' राम सत्ता के भूखे नहीं हैं और जहाँ राजा का वध करके राज्य प्राप्त करते हैं, वह राज्य भी अपने पास न रखकर पराजित राजा के उत्तराधिकारी को ही सौंप देते हैं, यह बात किष्किंधा में बाली-वध के बाद राम के आचरण से प्रकट हुई थी। विभीषण ने इस घटना की मन-ही-मन गणना करके इस युद्‌ध में यदि रावण तथा अन्य राक्षसों का नाश हो जाए तो राम लंका का राज्य उसे ही सौंपेंगे, इस लालच से उसने राम का आश्रय लिया होगा। वाल्मीकि ने विभीषण के चित्त में ऐसा कुछ था कि नहीं, उस संबंध में कुछ नहीं कहा है। इसके बावजूद हनुमान के इस अनुमान को पुष्ट करे, ऐसी विभीषण के अंतर की यह सुप्त इच्छा आगे चलकर निश्चित ही प्रकट हुई है। युद्‌ध के दौरान राम और लक्ष्मण दोनों इंद्रजित के नागपाश से बँधकर मृतवत् पड़े थे, उस समय विभीषण ने जो विलाप किया है, वह इस प्रकार है—

''जिसके बल-पराक्रम का आश्रय लेकर मैंने लंका के राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित होने की अभिलाषा की थी, वे दोनों पुरुष-शिरोमणि यहाँ देहत्याग करने के लिए सोए हैं। अब में जीवित होते हुए भी मृत समान ही हूँ, क्योंकि राज्याभिषेक का मेरा मनोरथ नष्ट हो गया है।''

युद्‌धकांड सर्ग-५०/१८-१९५ में विभीषण के मुख से कही गई यह बात उसके चित्त में राम का आश्रय स्वीकार करते समय ऐसी कोई गहरी-गहरी कल्पना हो, ऐसा संकेत देती है। ऐसा संभव है कि लंका का त्याग करते समय ऐसी कोई कल्पना सक्रिय रूप में विभीषण के मन में नहीं भी रही हो और अनुवर्ती घटनाओं में राम ने उसका राज्याभिषेक करके उसके मन में इस सुप्त मनोरथ को सक्रिय किया हो।

हनुमान ने जो आशंका व्यक्त की है, उसकी राम ने विभीषण के साथ की अपनी पहली ही मुलाकात में तत्काल पुष्टि की है। राम की सम्मति से जैसे ही यह प्रथम मुलाकात हुई तो तुरंत ही राम ने विभीषण को रावण के वध के बाद लंका का राजा बनाने का मीठा लालच दे दिया था। इतना ही नहीं, आज जिसे हमें Government in Exile यानी देश की धरती के बाहर रहकर वैधानिक शासन चलाती सरकार कहते हैं, उस सिद्‌धांत से विभीषण का लंका के सिंहासन पर राम ने तत्काल राज्याभिषेक भी कराया। लंका का राजा अब रावण नहीं, बल्कि विभीषण है, यह स्वीकार कर राम ने समानांतर सरकार का सिद्‌धांत प्रस्थापित किया। विभीषण ने यदि ऐसे राज्यारोहण को अस्वीकार कर दिया होता तो उसके चरित्र पर बौद्‌धिकों ने जो हेत्वारोपण किया है, उससे वह उबर गया होता। राम की शरण में विभीषण निरे भक्तिभाव से आया था, रावण के अधर्माचरण से संत्रस्त होकर धर्म की विजय के लिए आया था और वह सांगोपांग विशुद्‌ध धर्मात्मा था—यह प्रतिपादित करना तभी सरल हुआ होता।

इसके बावजूद विभीषण के पक्ष में इतना तो अवश्य कहना चाहिए कि वह जब तक लंका में रहा, तब तक उसने रावण को जिस तरह समझाया, युद्‌ध टालने के लिए जो प्रयत्न किए, उसमें उसके हृदय में राक्षसकुल तथा लंका के राज्य का हित अवश्य था। यहाँ तक उसके किसी भी बरताव में कहीं भी लालच या कोई राजकीय कूटनीति नहीं

दिखाई देती। इतना ही नहीं, सीताहरण की घटना से पहले रावण ने कुबेर से उसका पुष्पक-विमान छीन लिया और इस विमान में एक ही साथ अनेक स्त्रियों का अपहरण किया तो विभीषण ने कहा था कि रावण का परायी स्त्रियों का अपहरण करने का यह आचरण विनाशकारी है, पापकृत्य है तथा पीड़ादायक भी है। हालाँकि इससे अधिक क्रियात्मक विरोध उसने नहीं किया था। इसका कारण संभवत: यह भी रहा हो कि उस समय उन अपहर्ताओं के लिए जीवन-मरण का संग्राम करने के लिए किसी ने चढ़ाई नहीं की थी।

राम का विश्वास संपादित करने के बाद विभीषण ने अपनी वफादारी का पर्याप्त परिचय तत्काल दे दिया। राम द्वारा लंका के भूगोल तथा सैनिक व्यूहरचना के विषय में पूछे गए प्रश्नों के उत्तर में उसने जो जानकारी दी, वह हनुमान ने इससे पहले लंका में जो देखा था, उससे पूरी तरह मिलती थी। राम की सेना में वानर बनकर घुस आए रावण के दो गुप्तचर शूक तथा सारण को विभीषण ने ही मायावी शक्ति से पहचाना और उन दोनों को बाहर निकलवाया। युद्ध के दौरान विभीषण संपूर्णत: राम के प्रति समर्पित रहा है और स्वजाति के अपने परिजनों का संहार करने में वह कहीं भी पीछे नहीं रहा।

युद्ध में एक क्षण जब राम-लक्ष्मण सहित समग्र वानर-सैन्य मूर्च्छित होकर पड़ा था तो विभीषण ने इन सभी के बीच से मार्ग निकाला। घायल जांबवान् के पास से इस आपत्ति में से उबारने के लिए हनुमान ही एकमात्र विकल्प हैं, यह जानकारी प्राप्त की और हनुमान को हिमालय भेजकर औषधि प्राप्त की। इंद्रजित ने अपनी माया से कृत्रिम सीता का सृजन करके उसका वध किया तो इस सीता-वध को वास्तविक मानकर राम-लक्ष्मण व्यथित हो गए। उस क्षण विभीषण ने ही अपने मायावी ज्ञान से यह जान लिया कि सीता-वध की यह घटना भ्रम है और उसने यह बताकर राम-लक्ष्मण को सांत्वना दी।

रावण के वध के बाद विभीषण का व्यवहार, बाली के वध के बाद के सुग्रीव के व्यवहार के साथ एक क्षण विचार करने लायक है। बाली की मृत्यु के क्षण सुग्रीव व्यथित तथा विचलित हो गया है। वह राज्य के लालच में भ्रातृहंता हो गया है, इस पीड़ा से वह विलाप करता है। यह राज्य अब उसे नहीं चाहिए और बाली के साथ ही अग्नि-प्रवेश कर देह का अंत कर देना चाहता है, ऐसा भी सुग्रीव कहता है। राम द्वारा लंबे समय तक समझाए जाने के बाद ही सुग्रीव ने मानसिक स्वस्थता प्राप्त की थी। रावण के वध के बाद विभीषण का व्यवहार उससे एकदम भिन्न है। मेरी बात रावण ने नहीं मानी और नाश को प्राप्त हुआ, यह कहकर अनजाने ही विभीषण रावण को ताना मारता है। इतना भी जैसे पर्याप्त न हो—इस तरह वह रावण की अंत्येष्टि क्रिया करने से भी इनकार करता है। विभीषण कहता है कि रावण तो क्रूर, निर्दयी, असत्यवादी और परस्त्रीगामी था, इसलिए इसका दाह-संस्कार करना मैं उचित नहीं समझता। सब का अकल्याण करनेवाले रावण को मैं अपना भाई नहीं बल्कि शत्रु मानता हूँ। वह भले ज्येष्ठ हो, पर मेरे सम्मान का अधिकारी नहीं है। (युद्धकांड-१११/९३-९४)। आश्चर्यजनक बात तो यह है कि इसके तुरंत बाद ही दूसरे श्लोक में विभीषण की यह बात सुनकर राम अतिशय प्रसन्न हुए, ऐसा भी लिखा गया है। हालाँकि इसके बाद राम ने तुरंत ही कहा है, ''हे विभीषण, मुझे तुम्हारे हित में जो हो, वही कहना चाहिए। वैर मरण तक ही रहता है और रावण की मृत्यु हो गई है, इसलिए अब यह वैर शोभास्पद नहीं है, इसलिए अब तुम इसका दाह-संस्कार करो।'' राम के इस प्रकार समझाने के बाद ही विभीषण ने रावण का अंत्येष्टि-संस्कार संपन्न किया। रावण के दाह-संस्कार के बाद विभीषण ने अधिकारपूर्वक लंका का शासन सँभाल लिया।

विभीषण के चित्त में राम और सीता के प्रति पहले से ही भक्तिभाव अथवा समभाव रहे होंगे, यह निर्विवाद है। अशोक वाटिका में हनुमान जब पहली बार सीता से मिलते हैं तो उस समय सीता ने ये बातें कही हैं—

''विभीषण ने मुझे वापस सौंप देने के लिए रावण को बहुत समझाया था, किंतु रावण ने उसकी एक भी बात नहीं

मानी। विभीषण की पत्नी सरमा ने अपनी पुत्री कला को मेरे पास भेजकर ये सारी बातें कही थीं (सुंदरकांड-३७/८-२२)।

यद्यपि यह सही है कि युद्ध की पूर्वसंध्या पर विभीषण ने रावण को समझाया है, किंतु अशोक वाटिका में जो कुछ हुआ, उसके पहले विभीषण और रावण के बीच ऐसे किसी संवाद के होने का उल्लेख नहीं है। इसके बावजूद सीता के इस कथन का अर्थ यही होता है कि विभीषण धर्म व निष्ठापूर्वक रावण के इस कृत्य का विरोध करता था। इतना ही नहीं, रावण के कोप व रोष का खतरा मोल लेकर भी अशोक वाटिका में सीता के पास सांत्वना के दो शब्द भेजता था। विभीषण के पक्ष में यह बात भी लक्ष्य में रखनी चाहिए।

अयोध्या में राम के राज्याभिषेक के अवसर पर विभीषण उपस्थित रहे तथा उसके बाद अश्वमेध यज्ञ के समय भी उपस्थित थे। यज्ञ के निमित्त जिन ऋषियों का आगमन होता था, उनके सत्कार की विशेष जिम्मेदारी राम ने विभीषण को सौंपी थी। एक बार तो उसने पुनः लंका जाकर राज्य का शासन सँभालने की बजाय शेष आयु राम के सान्निध्य में व्यतीत करने का मनोगत भी प्रकट किया था। परंतु राम ने उसे उसका जीवनकर्म लंका का राज्य सँभालना है—ऐसा कहकर विदा कर दिया था। यही नहीं, इस विश्व में जिन्होंने चिरंजीवी के रूप में स्थान प्राप्त किया है, ऐसे विरल व्यक्तियों में विभीषण भी स्थान पाएँगे तथा 'यावच्चंद्रदिवाकरौ' विभीषण का नाम इस संसार में रहेगा, ऐसा आशीर्वचन भी राम ने उसे दिया है।

धर्म और अधर्म के बीच किसी एक को चुनने का जब धर्मसंकट आता है तो मनुष्य अपने हित या प्राप्ति को किस सीमा तक पिघला सकता है तथा जो प्राप्त हो, उससे किस सीमा तक निर्लिप्त रह सकता है, उसके आधार पर ही उसके आचरण का अधिक संनिष्ठ मूल्यांकन हो सकता है। विभीषण ने युद्ध से पूर्व अपनी सहायता के बदले में दिए गए राजमुकुट को यदि उस क्षण अस्वीकार किया होता तो उसका पात्र, जो आज आक्षेपों से कलंकित हुआ है, वह कलंकित न हुआ होता। रावण के वध के बाद एक अनिवार्य धर्म अथवा कर्तव्य के रूप में राम के आदेश से उसने यदि लंका का शासन सँभाला होता तो राम के प्रति उसके निष्काम भक्तिभाव या उसकी धर्मभावना के विषय में कोई कुछ न कहता।

❑

—१३—
लक्ष्मण

बालकांड से उत्तरकांड तक के सात कांड और कुल चौबीस हजार जितने श्लोकों में केवल दो ही पात्र ऐसे हैं, जो बालकांड के आरंभ से लेकर उत्तरकांड के अंत तक घटना-प्रवाह के साथ सक्रिय रहे हैं। यद्यपि इन दोनों पात्रों के नाम और चरित्र-चित्रण भिन्न हैं। परंतु अन्य रीति से देखें तो इन दोनों पात्रों में से दूसरा पात्र प्रथम पात्र में या तो आत्मसात् हो गया है अथवा निरी परछाईं बनकर उसने आत्मविलोपन किया है। ये दो पात्र यानी राम और लक्ष्मण हैं। ये दोनों भाई बालकांड के आरंभ में लगभग एक साथ ही जनमे हैं और उत्तरकांड के अंत में लगभग एक साथ ही कालधर्म को प्राप्त हुए हैं। लक्ष्मण का जन्म राम के जन्म के तुरंत बाद ही हुआ होगा, क्योंकि दोनों की माताओं का गर्भाधान एक साथ ही हुआ है। इन दोनों में उम्र में वय की दृष्टि से मुश्किल से कुछ दिनों का ही अंतर होगा—ऐसा निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। उनके कालधर्म-प्राप्ति के समय की जाँच करें तो जितने थोड़े दिन विलंब से लक्ष्मण का जन्म हुआ था, उससे विपरीत राम से कुछ ही दिन पूर्व वे कालधर्म को प्राप्त हुए हैं। इस तरह जन्म प्राप्त करने में राम चाहे अग्रज रहे हों, परंतु काल-कवलित होने में तो लक्ष्मण ही अग्रज रहे हैं।

एक विशेष उल्लेखनीय, रोचक और ध्यानाकर्षित करने लायक बात यह भी है कि आदि से अंत तक समग्र कथानक में छा जाने के पश्चात् भी वाल्मीकि ने लक्ष्मण द्वारा अत्यंत अल्प मात्रा में ही संवाद प्रायोजित किए हैं। समग्र बालकांड में लक्ष्मण ने एक भी शब्द का उच्चारण नहीं किया है। उच्चारणों के साथ लक्ष्मण पहली बार राम से अरण्यवास में मिलते हैं, जब वे क्रोध एवं रोष के साथ प्रवेश करते हैं। अयोध्याकांड के २१वें सर्ग में लक्ष्मण अपने पात्र का वास्तविक स्वरूप अनावृत करते हुए आवेशपूर्वक वीरता के साथ प्रवेश करते हैं।

इससे पूर्व महर्षि विश्वामित्र जब अपने यज्ञ की रक्षा के लिए राजा दशरथ से राम को माँगते हैं तब लक्ष्मण भी राम के साथ जाते हैं। विश्वामित्र ने उन्हें नहीं माँगा है। इतना ही नहीं, विश्वामित्र ने जब शस्त्राभ्यास के लिए राम को दीक्षा दी, तब इस दीक्षावधि में भी लक्ष्मण का कोई उल्लेख नहीं है। विश्वामित्र ने राम को जो दिव्य शस्त्र प्रदान किए हैं, उसमें सर्वत्र राम का ही उल्लेख है, लक्ष्मण का संदर्भ कहीं नहीं दिया गया है। राम के आदेश से लक्ष्मण विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा करते हैं तथा ताड़का का वध भी करते हैं। परंतु विश्वामित्र ने राम के साथ उन्हें कोई दीक्षा दी हो या शस्त्रज्ञान दिया हो, ऐसी स्पष्टता नहीं है। राम को जो शस्त्र अर्पित हुए हैं, उन शस्त्रों को महाकवि ने सजीवता प्रदान की है और ये दिव्य शस्त्र प्रसन्नतापूर्वक राम के समक्ष प्रणाम करके कहते हैं कि राम, आज से हम आपके वश हुए। इस प्रकार, शस्त्रों पर आधिपत्य राम को ही प्राप्त हुआ है। यहाँ आरंभ से ही लक्ष्मण मानो ज्येष्ठ भ्राता राम में आत्मसात् हो जाते हैं और जहाँ राम होंगे, वहाँ लक्ष्मण भी होंगे ही और उनका कोई विशेष उल्लेख जरूरी नहीं है, ऐसा अभिप्रेत होता है। इस तरह लक्ष्मण का स्वतंत्र व्यक्तित्व होने के बावजूद राम के संदर्भ में वे केवल एक परछाईं बनकर रहे हैं।

पिता ने राम को राज्याभिषेक के बदले वनवास दिया, इस जानकारी से लक्ष्मण अत्यंत उत्तेजित हो गए हैं। वे जिसे अन्याय या अधर्म मानते हैं, उसके बारे में रोष और आक्रोशपूर्ण प्रस्तुति करना लक्ष्मण का लक्षण है। राम के प्रति उनका भक्तिभाव और स्नेह अनन्य है। उनका रोष चाहे कितना ही प्रचंड क्यों न हो, फिर भी राम के कहने मात्र से लक्ष्मण हमेशा शांत हो जाते हैं। जब राम का अभिमत प्रथम प्रकट होता है, तब मन से विरुद्ध होने के बावजूद लक्ष्मण अपना विरोधी मंतव्य व्यक्त नहीं करते। उत्तरकांड में जब राम सीता-त्याग करते हैं और सीता को

बताए बिना ही उन्हें गंगा-तट पर अकेले त्याग देने का काम लक्ष्मण को सौंपते हैं, तब मन से लक्ष्मण खिन्न हुए हैं। सारथि सुमंत्र के साथ वार्तालाप करते हुए वे सीता की पवित्रता तथा अपना विषाद भी व्यक्त करते हैं। लक्ष्मण कहते हैं कि केवल नगरजनों के कहने से इस प्रकार सीता का त्याग करना अत्यंत निर्दय कर्म है, परंतु यह बात उन्होंने राम से नहीं कही।

इसके विपरीत, उत्तरकांड में ही अन्य एक प्रसंग ऐसा है, जिसमें भरत ने राम की इच्छा के विरुद्ध अपना मत असंदिग्ध भाषा में दरशाया है। राम राजसूय-यज्ञ करना चाहते थे, परंतु यज्ञ करने से पहले पृथ्वी के सभी राजाओं को युद्ध में परास्त करना इस यज्ञ का अनिवार्य नियम है। अत: इसमें संहार करना अनिवार्य हो जाता है। ऐसा निरर्थक संहार करके राजसूय-यज्ञ द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त करना राम जैसे धर्मिष्ठ के लिए शोभास्पद नहीं है—ऐसा भरत दृढ़ता से कहते हैं और राम भरत की इस बात को स्वीकार करके राजसूय-यज्ञ नहीं करते। लक्ष्मण भरत जैसा व्यवहार कभी नहीं करते। सीता-त्याग जैसे प्रसंग में भी वे क्षण भर के लिए सुमंत्र के समक्ष विषाद अवश्य व्यक्त करते हैं, परंतु तुरंत यह भी कहते हैं कि सीता के विरह में अब राम का क्या होगा, यही चिंता मुझे सता रही है। इस प्रकार सीता-त्याग के परिणामस्वरूप अधिक कष्ट सहना तो सीता की नियति में था, फिर भी लक्ष्मण सत्य जानने के बावजूद चिंता और व्यग्रता तो राम के विषय में ही प्रकट करते हैं।

लक्ष्मण के प्रति पूर्ण आदर के साथ विभीषण तथा कुंभकर्ण का रावण के प्रति व्यवहार भी एक आशय से एक क्षण के लिए जाँच लेना जरूरी है। रावण ने सीता-हरण करके राम के साथ जो द्वेषभाव पैदा किया, उसमें उसके साथ कुंभकर्ण और विभीषण दोनों सहमत नहीं थे। इन दोनों ने अग्रज के प्रति पूर्ण सम्मान के साथ भी असहमति व्यक्त की है। इसमें असहमति प्रकट करने के बाद दोनों भाइयों ने भिन्न मार्ग अपनाए, यह अलग बात है। परंतु वे दोनों भाई, जो भी धर्म्य और न्यायी समझते हैं, उसे प्रकट रूप से कह देना अवश्य जरूरी समझते हैं, जबकि लक्ष्मण ने ऐसा कभी नहीं किया।

राजा दशरथ ने राम को वनवास दिया, तब लक्ष्मण ने जो आक्रोश व्यक्त किया है, उसमें राजा को बंदी बनाकर या फिर उनका वध करके भी राम को राज्य हस्तगत कर लेना चाहिए, ऐसा भी कहा है। राजा दशरथ तो वृद्धावस्था के कारण बुद्धि-क्षमता खो बैठे हैं और कैकेयी जैसी स्त्री के सामने कामवश हो चुके हैं, अत: उनमें विवेक-बुद्धि नहीं रही है, ऐसा रोष भी लक्ष्मण प्रकट करते हैं। राम उनके इस रोष को शांत करते हैं तथा कहते हैं —''हे लक्ष्मण! मेरे राज्याभिषेक में यह जो विघ्न आया है, वह दैवाधीन है। इसमें कैकेयी या दशरथ किसी का कोई दोष नहीं है। जिस घटना को हम समझ नहीं सकते, उसका कारण होनी ही होता है, अत: दैव का विरोध करना उचित नहीं है। पिता की आज्ञा का पालन करना ही मेरा धर्म है।''

लक्ष्मण अग्रज के दैव-विषयक विचारों का सख्ती से विरोध करते हैं। वे कहते हैं कि मात्र असमर्थ लोग ही दैव नामक तुच्छ वस्तु को स्वीकार करते हैं और शक्तिशाली वीर पुरुष ऐसी बात नहीं करते। दैव का विरोध करनेवाले लक्ष्मण ने (उत्तरकांड-सर्ग-५०/४ में) मन मारकर दैव को स्वीकार भी किया है। बढ़ती उम्र और प्राप्त अनुभवों के कारण मनुष्य में दैव नामक तत्त्व के अधीन होने का सयानापन आ जाता है, इस व्यावहारिक ज्ञान की यहाँ प्रतीति होती है। सीता-त्याग के पश्चात् वापस लौटते हुए लक्ष्मण सुमंत्र से कहते हैं—

व्यक्तं दैवादहं मन्ये राघवस्य विनांभवम्।
वैदेह्या सारथे नित्यं दैवं हि दुर्शनक्रमम्॥

अर्थात् राम को अब जो सीता को वियोग प्राप्त हुआ है, उसका कारण मात्र दैव ही हैं और दैव ने जो निर्मित किया है, उसका उल्लंघन करना असंभव है।

इस प्रकार, लक्ष्मण ने जीवन के आरंभ में—युवावस्था में जिस दैव को तिरस्कृत किया है, उसी दैव की सर्वोपरिता जीवन की उत्तरावस्था में नतमस्तक होकर स्वीकार की है, इस बात की टिप्पणी करनी चाहिए।

रामायण के समग्र घटनाचक्र में अग्रताक्रम में राम के पश्चात् सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सक्रिय भूमिका लक्ष्मण की ही रही है। फिर भी रामायण में उनके संवाद गिने-चुने ही हैं। इनमें अधिकांश ऐसे संवाद लक्ष्मण ने रोषपूर्ण और आवेशमय अवस्था में ही प्रस्तुत किए हैं। अयोध्या के राजमहल में राम के प्रति भक्तिभाव से उन्होंने पिता का वध कर देने तक की उग्रता व्यक्त की है और फिर वनवास जैसे के समय उन्होंने राम से यह कहा कि आप ही मेरे पिता हैं, माता हैं और सर्वस्व हैं। पिता ने केवल राम को ही वनवास दिया है लेकिन फिर भी लक्ष्मण ने यह वनवास जैसे उनको दिया गया हो, वैसे स्वीकार किया है। राम ने वनवास से पूर्व सीता से मिलकर पहले विदाई माँगी और फिर सीता को अपने साथ ले जाने की सहमति भी दी और उसके बाद वे कौशल्या से भी मिले हैं, परंतु लक्ष्मण ने ऐसा कुछ नहीं किया है। पत्नी उर्मिला के पास जाकर उन्होंने इतना भी नहीं कहा कि 'मैं जा रहा हूँ।' सुमित्रा के पास भी उन्होंने अनुमति नहीं माँगी है; परंतु वे राम का अनुसरण कर रहे हैं, इतनी जानकारी-मात्र दी है। सुमित्रा ने भी लक्ष्मण की इस अनन्य रामभक्ति को एक वास्तविकता के रूप में स्वीकार किया है और तत्काल उन्हें आशीर्वाद भी दिए हैं। इतना ही नहीं, वनवास के दौरान राम और सीता की सेवा करने तथा उनमें ही दशरथ तथा सुमित्रा के दर्शन करने की शिक्षा भी दी है। लक्ष्मण ने इस शिक्षा का अक्षरश: पालन किया है। फल-फूल ले आने से लेकर कुटिया के निर्माण तक के सभी कार्य लक्ष्मण ने सहजभाव से और अप्रतिभ समर्पण से किए हैं।

चित्रकूट निवास के दौरान जब भरत का आगमन होता है, तब फिर एक बार लक्ष्मण की ओजस्विनी परंतु उग्र वाणी सुनाई देती है। पर्णकुटी के पास एक वृक्ष की शाखा पर से जब उन्होंने देखा कि आनेवाली सेना के अग्रभाग में अयोध्या का राज्य- ध्वज फहरा रहा है, तब दूसरे ही क्षण वह भरत का नाश करने के लिए तैयार हो जाते हैं। भरत अयोध्या का राजा बनकर अब वन में आकर राम का नाश करना चाहता है, इसके सिवाय अन्य कोई अनुमान लक्ष्मण नहीं कर सकते। जिसके प्रति हमें अत्यधिक स्नेह होता है, उसके हित की चिंता करते हुए हमारी सोच इसी दिशा में अग्रसर होती है। लक्ष्मण ने भी यही किया है। कैकेयी सहित भरत का सपरिवार वध करके राम को अयोध्या के राजा के रूप में प्रस्थापित करने का सपना भी लक्ष्मण ने अभिव्यक्त किया है।

यहाँ इस बात का उल्लेख करना जरूरी है कि लक्ष्मण का राम के प्रति प्रेम इतना अधिक उत्कट है कि वे राम के विरुद्ध लेशमात्र भी आशंका से भाई, बांधव या माता-पिता का भी वध करने के लिए तत्क्षण तैयार हो जाते हैं। उग्रता के इस पल में राम अद्भुत संतुलन से भरत के अचानक आगमन का अन्य भी कोई उद्देश्य हो सकता है, उस ओर लक्ष्मण का ध्यान आकर्षित करते हैं। राम ऐसे अपूर्व विश्वास के साथ कहते हैं कि भरत यहाँ कुछ लेने नहीं अपितु राज्य देने ही आया होगा, और यदि लक्ष्मण यह राज्य प्राप्त करना चाहेगा तो राम के कहने से भरत अवश्य दे देगा। राम के समझाने के पश्चात् लक्ष्मण पुन: शांत हो जाते हैं।

लक्ष्मण की कुशाग्र-बुद्धि का एक संकेत यहाँ उल्लेखनीय है। अरण्य में कहीं रास्ता भूल न जाएँ और पर्णकुटी तक पहुँचने का रास्ता बनाना न पड़े, इसलिए आवागमन के मार्गों पर वृक्षों की शाखाओं पर तृण या वस्त्र के टुकड़े लटकाकर उसने मार्गसूचक चिह्नों की रचना कर दी थी। आधुनिक काल में हम जिन्हें मील के पत्थर या साईन बोर्ड कहते हैं, ऐसी इस व्यवस्था का उस युग में, घोर अरण्य में भी, लक्ष्मण ने प्रयोजन किया था, यह बात अत्यंत रोचक है।

अरण्यवास के दौरान पंचवटी में शूर्पणखा के प्रसंग में प्रकट होनेवाले लक्ष्मण उल्लेखनीय हैं। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने अपने खंडकाव्य 'पंचवटी' में शूर्पणखा का प्रसंग रात्रि के अंतिम प्रहर में घटित हुआ था और

शूर्पणखा सबसे पहले रात्रि के समय पर्णकुटी के बाहर पहरा दे रहे लक्ष्मण को देखकर मोहित हुई थी, ऐसी घटना का चित्रण किया है। वाल्मीकि के मूल कथानक के अनुसार शूर्पणखा दिन के समय ही आई थी और सबसे पहले वह राम के दर्शन से मोहित हुई थी। इतना ही नहीं, राम के पास जाकर पहले उसने प्रेम की याचना की थी। तुलसीदास ने उसका परिचय देते हुए कुमारिका के रूप में उसकी पहचान कराई है; परंतु वाल्मीकि के अनुसार वह इससे पूर्व ही वैधव्य प्राप्त कर चुकी थी। रामायण के अभ्यासी के लिए यहाँ कभी-कभार एक समस्या पैदा होती है। राम ने शूर्पणखा को अस्वीकार करके उसे लक्ष्मण की ओर भेज दिया। इतना ही नहीं, स्वयं विवाहित हैं एवं लक्ष्मण अविवाहित है, ऐसा भी कह दिया। यहाँ कृतदार और अकृतदार शब्दों का प्रयोग किया गया है। स्वाभाविक रूप से यह सवाल उठ सकता है कि राम ने लक्ष्मण का परिचय अविवाहित के रूप में क्यों दिया होगा? राम ने कभी असत्यवादन नहीं किया है, अत: शूर्पणखा या लक्ष्मण का मजाक करने जितना असत्य भी वे बोल दें, यह नहीं माना जा सकता। ऐसा हलका मजाक राम की प्रकृति में अन्यत्र कहीं दृष्टिगत नहीं होता। इस परिस्थिति में 'कृतदार' और 'अकृतदार' यानी रूढ़ अर्थ से तनिक भिन्न 'भार्यासहित' और 'भार्यारहित' ऐसा अर्थ करना चाहिए। इस समय लक्ष्मण भार्यारहित थे और एक से अधिक भार्या होना तत्कालीन युग में कोई नई बात नहीं थी।

इसके पश्चात् लक्ष्मण ने यह कहकर शूर्पणखा को अस्वीकार किया कि वह तो राम का सेवक है और यदि शूर्पणखा उसकी पत्नी बनेगी तो उसे दासी के रूप में जीना पड़ेगा, इसके बदले यदि वह राम के पास जाकर उनकी ही दूसरी पत्नी बनेगी तो उसे अधिक सुख मिलेगा। यहाँ लक्ष्मण निरा उपहास करते हुए कहते हैं—''यदि तुम्हारे जैसी सुंदर स्त्री प्राप्त हो रही हो तो ऐसा कौन बुद्धिमान मनुष्य होगा, जो अपनी कुरूप, विकृत, पेट निकली हुई और वृद्ध पत्नी का त्याग न कर दे! राम ऐसा ही करेंगे।'' इस प्रकार, शूर्पणखा के प्रकरण में राम तथा लक्ष्मण दोनों भाइयों ने इस कामातुर स्त्री को उपहास का साधन बना दिया है। पर-पुरुष या पर-स्त्री के दर्शन मात्र से मोहवश होकर उसके साथ जुड़ जाने की माँग करने में तत्कालीन समाज में कोई अनौचित्य नहीं दिखाई देता। ऐसे अनेक प्रसंग महाभारत काल में भी प्राप्त होते हैं। इसके द्वारा शूर्पणखा का बचाव करने का कोई उद्देश्य नहीं है। परंतु राम तथा लक्ष्मण ने अपने प्रकृतिधर्म से भिन्न जो बरताव किया है, उसके विषय में अवश्य सवाल उठता है। इसके बाद शूर्पणखा क्रोधावेश में सीता की ओर वेग से आगे बढ़ी, तब लक्ष्मण ने राम की आज्ञानुसार उसके नाक-कान काट दिए। एक तरह से रावण तथा समग्र राक्षसजाति के विरुद्ध वैरभाव का प्रारंभ यहीं से हुआ है। कभी-कभार कुछ बौद्धिक लोग शूर्पणखा के प्रति राम-लक्ष्मण के इस व्यवहार के कारण ही अनुवर्ती घटनाएँ घटित हुई हैं, ऐसा कहकर रावण का बचाव करने की कोशिश अवश्य करते हैं।

लक्ष्मण की विलक्षण बुद्धि का परिचय सीताहरण के प्रसंग में प्राप्त होता है। मारीच कांचनमृग बनकर सीता को ललचाने में सफल होता है, तब लक्ष्मण तुरंत ही कहते हैं कि ऐसा कोई कांचनमृग कभी हो ही नहीं सकता। इस अरण्य में निवास करनेवाले राक्षसों की ही यह माया है, इस छलना में हमें फँसना नहीं चाहिए। सीता का आकर्षित होना ठीक है, स्वयं राम भी इस मायावी मृग से मोहित होकर उसे हस्तगत करने के लिए प्रेरित हो जाते हैं। लक्ष्मण की आशंका उचित हो, तो भी ऐसा मायावी रूप लेकर दूसरों को ठगनेवाले राक्षस का तो वध ही कर देना चाहिए, यही राम की सोच है। हमेशा आज्ञाकारी रहनेवाले लक्ष्मण इसके पश्चात् कोई विवाद नहीं करते और सीता की रक्षा के लिए पर्णकुटी में रहते हैं तथा राम अकेले ही मृग का वध करने के लिए बाहर जाते हैं।

मायावी कांचनमृग ने लक्ष्मण के नाम की पुकार की, इससे व्यथित होकर सीता ने राम की सहायतार्थ जाने के लिए लक्ष्मण को जो कटुवचन सुनाए, वह केवल लक्ष्मण जैसा श्रेष्ठ पुरुष ही सह सकता है। सीता जैसी श्रेष्ठ स्त्री का ऐसे वचन बोलना, घड़ी भर के लिए तो इस पर विश्वास ही नहीं किया जा सकता। इस कटुवचन का एक ही

दृष्टांत उद्धृत करना पर्याप्त है—''लक्ष्मण, तुम अत्यंत दुष्ट हो! राम अकेले ही वन में आ रहे थे, तब मुझे प्राप्त करने के लिए ही तुम अपने मनोभाव छिपाकर हमारे साथ आए हो अथवा शायद भरत के कहने से ही आए हो।''

यह घटना लक्ष्मण की सहनशीलता और धैर्य की कसौटी करनेवाली है। सपाट धरती पर बिजली गिरने से गड्ढा हो जाता है, परंतु शिखर पर गिरने से शिखर थोड़ा सा कंपित होकर भी बिजली का प्रहार अंतस् में उतार लेता है। लक्ष्मण ने भी इस क्षण शिखर की भूमिका निबाही है। इस घोर अन्याय के विरुद्ध एक अक्षर भी बोले बिना सीता को पर्णकुटी में अकेले छोड़कर लक्ष्मण राम की सहायता के लिए जाते हैं। वह जाते हुए बस इतना ही कहते हैं —''हे वनदेवता, सीता की रक्षा करना।'' पर्णकुटी के आस-पास लक्ष्मण द्वारा रेखा अंकित करने की बात अनुवर्ती रामायण में प्रचलित हुई है। मूल वाल्मीकि रामायण में ऐसी कोई कथा नहीं है।

लक्ष्मण ने राम की आज्ञा का उल्लंघन किया हो, ऐसे दो प्रसंग रामायण में हैं। पहले प्रसंग में सीताहरण के महाअनर्थ का सृजन हुआ और इस अनर्थ के फलस्वरूप महासंहार भी हुआ। अन्य प्रसंग उत्तरकांड में है। उस प्रसंग में जब स्वयं कालदेव राम के समक्ष उपस्थित होकर जीवनलीला समाप्त कर देने के लिए कहते हैं, तब दूसरी बार लक्ष्मण ने राम की आज्ञा का उल्लंघन किया है। राम और काल के बीच मंत्रणा के समय कोई भी कक्ष में प्रविष्ट न हो, इसकी कड़ी निगरानी करने का काम राम ने लक्ष्मण को सौंपा था और काल के ही आग्रह से ऐसा दंड-विधान भी किया था कि यदि कोई भी मनुष्य इन दोनों के बीच की बात सुन लेगा या मंत्रणा-कक्ष में प्रवेश करेगा तो उसका वध किया जाएगा।

उसके बाद वहाँ दुर्वासा का आगमन होता है। एक हजार वर्ष के उपवास की तपस्या के पश्चात् आहार निमित्त अयोध्या में राम के पास आए हुए दुर्वासा ने अंदर जाने का आग्रह किया और यदि इसी क्षण लक्ष्मण उन्हें राम के पास नहीं जाने देगा तो उपवास समाप्त करने का मुहूर्त चला जाएगा और वे समग्र अयोध्या तथा राजपरिवार को शापित कर देंगे, ऐसी धमकी देते हैं। इस शाप से सबको बचाने के लिए, 'चाहे मेरा नाश हो जाए,' इस स्तुत्य-भाव के साथ धर्मसंकट में फँसे लक्ष्मण ने राम की आज्ञा का उल्लंघन किया। परिणामस्वरूप देहांत-दंड की राज-आज्ञा उनके सिर पर आ गई। ऐसे समय में यदि राम लक्ष्मण का त्याग कर दें तो वह वध के समान ही है—ऐसा तर्क भी प्रस्तुत किया गया है, परंतु लक्ष्मण ने इस तर्क को स्वीकार नहीं किया है और एक क्षण का भी विलंब किए बिना, पत्नी उर्मिला या अन्य किसी से भी मिले बिना वे सीधे सरयू-तट पर चले गए और प्राणों का नियमन करके देहत्याग किया।

राम की आज्ञा के प्रथम उल्लंघन से सार्वत्रिक संहार निर्माण हुआ और दूसरे उल्लंघन से स्वयं लक्ष्मण का आत्मविलोपन हुआ। लक्ष्मण ने राम द्वारा अपने त्याग को वध के रूप में मानकर जीने की लालसा नहीं रखी। अभ्यासीजन रामायण के इस प्रसंग के साथ महाभारत में युद्ध के सत्रहवें दिन युधिष्ठिर तथा अर्जुन के बीच के कलह के प्रसंग की तुलना कर सकते हैं। गांडीव का अपमान करनेवाले का वध करने की अर्जुन की प्रतिज्ञा और फिर पितातुल्य ज्येष्ठ भ्राता का अपमान करने से उसे प्राप्त पितृहत्या—इन दोनों में कृष्ण ने धर्म के बहाने मध्यम मार्ग निकालकर युधिष्ठिर तथा अर्जुन दोनों को बचा लिया था। इन दोनों भाइयों ने कृष्ण के इस मध्यम मार्ग का स्वीकार कर जीना भी पसंद किया था। इसमें लक्ष्यार्थ नहीं, परंतु शब्दार्थ की ही विजय हुई थी। लेकिन यहाँ लक्ष्मण ने शब्दार्थ से जुड़कर जीने के बदले उसके लक्ष्यार्थ को स्वीकार करके मृत्यु प्राप्त करना पसंद किया है।

निरंतर (सदैव) राम की परछाईं बने रहने के अलावा लक्ष्मण ने राम को जीवन की अस्वस्थता या कमजोर क्षणों में सहारा भी दिया है। सीताहरण के बाद राम जब भी अस्वस्थ हुए हैं और उन्होंने विलाप किया है, तब लक्ष्मण ने उन्हें सांत्वना भी दी है। पंपा सरोवर के तट पर लक्ष्मण ने ही अस्वस्थ राम को सीता की खोज के लिए नया बल

प्रदान किया है। इसके अलावा युद्ध के दौरान जब इंद्रजित ने सीता-वध की मायावी रचना की, तब लक्ष्मण ने ही स्वस्थता बनाए रखकर राम को सँभाला है।

सीता-खोज के अभियान में राम तथा लक्ष्मण जब ऋष्यमूक पर्वत पर सुग्रीव से मिलते हैं, तब रावण द्वारा अपहृत सीता ने आकाश से जो आभूषण तथा उत्तरीय वस्त्र फेंके थे, वे सुग्रीव ने उन्हें दिखाए। यह प्रसंग बहुत प्रसिद्ध है। इन अलंकारों और उत्तरीय वस्त्र को राम तुरंत ही पहचान लेते हैं और जब वे उन्हें पहचानने के लिए लक्ष्मण से कहते हैं तब लक्ष्मण उन्हें पहचान नहीं पाते। इस प्रसंग में कवि द्वारा लक्ष्मण के मुख से जो शब्द उच्चरित हुए हैं, वे भी बहुत प्रसिद्ध हैं—''इन बाजूबंध या कुंडलों को तो मैं नहीं पहचानता, परंतु नूपुर को मैं अच्छी तरह से पहचानता हूँ; क्योंकि प्रतिदिन भाभी को प्रणाम करता था, अत: उनके चरणों के इन अलंकारों से मैं परिचित हूँ।''

लक्ष्मण की यह बात एक उच्च आदर्श अवश्य प्रस्थापित करती है, परंतु प्रत्यक्ष जीवन में इसकी व्यावहारिकता के विषय में आशंका होना स्वाभाविक है। बरसों तक एक ही पर्णकुटी में निरंतर साथ रहना और वह भी तब, जब अन्य किसी भी व्यक्ति का संपर्क न हो, ऐसी परिस्थिति में लक्ष्मण ने सीता के चरणों के सिवाय कुछ देखा ही न हो, इस कथन में चाहे काव्यात्मकता हो सकती है, परंतु उसमें व्यावहारिकता कितनी है? सीता लक्ष्मण के लिए मातृतुल्य थीं, परंतु क्या लक्ष्मण ऐसी ही बात सुमित्रा के लिए कह सकते थे?—ऐसा प्रश्न उठना स्वाभाविक है। सीता की ओर लक्ष्मण ने आँख उठाकर एक नजर भी नहीं डाली थी, ऐसी इस घटना का अन्य आत्यंतिक छोर हमें उत्तरकांड में प्राप्त होता है। गंगा-तट पर वाल्मीकि के आश्रम के निकट राम की आज्ञा के अनुसार लक्ष्मण ने सीता को छोड़ दिया, तब सीता ने जो मर्मभेदी उच्चारण किया है, उसमें एक कथन ऐसा भी है (उत्तरकांड, ४८/१८)—

''हे लक्ष्मण! अब जाते हुए आप मेरी ओर देख लो कि ऋतुकाल को लाँघकर मैं गर्भवती हो चुकी हूँ।''

सीता का यह कथन सुनकर लक्ष्मण जोर से एवं सिसकियाँ भरते हुए रोने लगे और बोले, ''हे माता! आप यह क्या कह रही हैं? मैंने तो आज तक आपकी चरण-वंदना ही की है। अब आज इस अरण्य में श्रीराम की अनुपस्थिति में मैं आपकी ओर कैसे देख सकता हूँ?'' प्रथम प्रसंग की तुलना में यह दूसरा प्रसंग अधिक वास्तविक और हृदयस्पर्शी है। इस प्रसंग में लक्ष्मण का कथन और बरताव दोनों अधिक गरिमापूर्ण लगते हैं।

लक्ष्मण द्वारा सीता की ओर आँख उठाकर एक क्षण के लिए भी नहीं देखने के बरताव के साथ हनुमान द्वारा मध्यरात्रि के समय लंका में सीता की खोज के प्रसंग की तुलना करने योग्य है। हनुमान सीता को दर्शन-मात्र से भी पहचानते नहीं थे। रावण के अंत:पुर से लेकर सर्वत्र निद्राधीन अवस्था में अस्त-व्यस्त पड़े हुए स्त्रियों के शरीरों का वे अत्यंत सूक्ष्मता से निरीक्षण भी करते हैं। उनके इस निरीक्षण का हेतु केवल सीता की खोज करना ही था। नारी-देहों का ऐसा निरीक्षण करना उनके जैसे निष्ठावान् ब्रह्मचारी के लिए उचित नहीं है, ऐसा विचार जब उनके मन में पैदा होता है, तब तुरंत ही महाकवि ने एक सुंदर समाधान प्रस्तुत किया है—चाहे कितना भी सूक्ष्म निरीक्षण करने के पश्चात् यदि मन में विकार उत्पन्न नहीं होता तो वह अपराध नहीं है। इससे धर्मलोप भी नहीं होता।

हनुमान जब अशोक वाटिका में सीता को देखते हैं तब भी उन्होंने सीता का अत्यंत सूक्ष्मता से नख-शिख दर्शन किया है। सीता ने अपने अंगों पर जो अलंकार धारण किए थे, उनमें केयूर यानी बाजूबंद, नूपुर यानी पैंजनी और कुंडल—ये तीन आभूषण उनकी देह पर नहीं थे। अपनी विलक्षण बुद्धिमत्ता से हनुमान तर्क करते हैं कि ये सीता ही होनी चाहिए, क्योंकि उस दिन ऋष्यमुक पर्वत पर उन्होंने जो तीन आभूषण फेंके थे, उनका यहाँ अभाव है। हनुमान का यह निरीक्षण सीता की समग्र देह को निहारे बिना संभव नहीं है और हनुमान की पवित्रता लक्ष्मण की पवित्रता से तनिक भी कम थी—ऐसा कोई नहीं कह सकता। यहाँ महत्त्वपूर्ण आशय किसी स्त्री-देह को देखना नहीं है, परंतु

उसके दर्शन से उत्पन्न होनेवाली विभावना का ही है। लक्ष्मण उनकी दृष्टि से सही हो सकते हैं, परंतु सच कहें तो यह उनकी मर्यादा ही थी। हनुमान इस मर्यादा से बहुत आगे थे, ऐसा कहना चाहिए।

लक्ष्मण के आवेश और रोष का तृतीय प्रसंग किष्किंधा में घटित हुआ है। बाली-वध के बाद राजा सुग्रीव ने सीता के खोजने में प्रमाद किया है, ऐसा जब उन्हें लगा तब केवल सुग्रीव ही नहीं, परंतु समग्र किष्किंधा का नाश कर देने का क्रोध उन्होंने प्रकट किया। क्रोधित लक्ष्मण का ऋष्यमूक पर्वत पर से सुग्रीव के अंत:पुर तक का दर्शन—देखने और अनुभव करने जैसा है। रोषपूर्ण अवस्था में समग्र का संहार करने के लिए तत्पर लक्ष्मण स्त्री-दाक्षिण्य जैसी सामान्य सभ्यता को भी भूल नहीं पाते। जब सुग्रीव के बदले तारामती लक्ष्मण के समक्ष उपस्थित हुई तब लक्ष्मण का रोष क्रमश: परंतु त्वरित शांत हो जाता है। क्रोधावस्था में लक्ष्मण तारामती को तजते नहीं या उसका अपमान भी नहीं करते, अपितु तारामती जो भी तर्क प्रस्तुत करती है, उनको स्वीकार भी करते हैं।

हरण से पूर्व लक्ष्मण से कहे हुए कटुवचन का सीता मानो बदला चुका रही हों वैसा सुंदरकांड में हनुमान को विदाई देते समय लक्ष्मण के लिए जो संदेश भेजा है, उसमें लक्ष्मण का पूर्ण चरित्र और रामभक्ति प्रकट हुई है। सर्ग ३८ के ५४ से ६२ तक के श्लोकों में सीता ने मुक्त मन से लक्ष्मण के प्रति हर्ष एवं विस्मयसूचक उद्‌गार व्यक्त किए हैं। उत्तम ऐश्वर्य का त्याग करके जिसने राम के साथ अरण्यवास को स्वीकार किया है, जो हमेशा धर्मिष्ठ हैं तथा मन को वश में रखता है, जिसने राम तथा सीता को निरंतर माता-पिता माना है और राम को जो भाई सीता से भी अधिक प्रिय है, ऐसे इस लक्ष्मण को देखकर राम पिता दशरथ को भी विस्मृत कर देते हैं; क्योंकि लक्ष्मण भी दशरथ के समान ही राम की सँभाल लेते हैं।

सीता द्‌वारा उच्चारित इन वचनों में लक्ष्मण का पात्र पूर्णरूप से प्रकट होता है। राम को भी लक्ष्मण के लिए कितना गहरा अनुराग है, इसकी प्रतीति हमें युद्‌धकांड के ४९वें सर्ग में कर सकते हैं। इंद्रजित के नागपाश में बँधकर अचेत पड़े हुए लक्ष्मण को मृतप्राय: मानकर विलाप करते हुए राम कहते हैं कि यदि अब लक्ष्मण ही नहीं है तो सीता को प्राप्त करने की क्या जरूरत है? अथवा अब जीने का क्या मतलब है? यदि लक्ष्मण जीवित नहीं है तो अब युद्‌ध निरर्थक है, यह मानकर राम वानर सेनापतियों को युद्‌ध समेटकर समुद्र के उस पार वापस लौट जाने के लिए भी सूचित करते हैं। राम और सीता दोनों के मन में लक्ष्मण के लिए कितना उत्कट स्नेह था, वह यहाँ प्रतिबिंबित होता है।

लक्ष्मण का आवेश और रोषपूर्ण एक अन्य प्रवेश इंद्रजित के साथ उसके अंतिम युद्‌ध के दौरान होता है। सामान्य रूप से हम यह मानते हैं कि केवल राम ने ही रावण के प्रति ब्रह्मास्त्र का आयोजन किया था, परंतु रामायण में युद्‌ध के दौरान अन्यत्र भी उसके बारंबार आयोजित करने के प्रमाण प्राप्त होते हैं। अतिकाय का वध करने के लिए लक्ष्मण ने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया था तथा इंद्रजित ने राम-लक्ष्मण के साथ संपूर्ण वानरसेना को मूर्च्छित तथा घायल करने के लिए ब्रह्मास्त्र का उपयोग किया था। (युद्‌धकांड—७३/६८)

इंद्रजित पर लक्ष्मण की विजय रावण पर राम की विजय से अधिक ध्यानाकर्षक होनी चाहिए, क्योंकि इंद्रजित अपने पूर्ण जीवनकाल के दौरान अजेय रहा था और उसने इंद्र को भी बंदी बनाया था। अदृश्य रहकर मायावी स्वरूप से लड़ने का सामर्थ्य उसमें था। निष्कुंभिकादेवी के पूजन के पश्चात् तो वह संपूर्ण अवध्य और अजेय हो गया था। फिर भी लक्ष्मण ने उसका वध किया, अत: राम द्‌वारा रावण के वध से यह अधिक उल्लेखनीय है। यहाँ यह भी याद रखना जरूरी है कि राम द्‌वारा रावण के वध में आयोजित ब्रह्मास्त्र का स्मरण राम को इंद्र के सारथि मातलि ने ही करवाया था और मातलि के कथन के बाद ही राम को ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करना चाहिए, यह याद आया था। (युद्‌ध कांड—१०८/३)

लक्ष्मण की रामभक्ति इतनी प्रबल है कि युद्ध की समाप्ति पर राम ने जब सीता का अनादर किया और सीता को अग्नि-परीक्षा के लिए चिता में प्रवेश करने के लिए कहा, तब लक्ष्मण स्तब्ध और खिन्न अवश्य हो गए हैं; परंतु असहमति का एक भी शब्द उच्चरित किए बिना राम की आज्ञा से सीता के अग्नि-प्रवेश की चिता भी स्वयं ही तैयार करते हैं। लक्ष्मण के जीवन के इस करुणांत का दूसरा भाग अयोध्या के सिंहासन पर आरूढ़ होने के पश्चात् राम द्वारा किए गए सीता-त्याग के समय भी खेला गया है। सीता-त्याग का अत्यंत दुष्कर कार्य संपन्न करने की जिम्मेदारी का राम की आज्ञा से लक्ष्मण ने ही निर्वाह किया है। इस क्षण तो लक्ष्मण ने झूठ का भी सहारा लिया है। राम की आज्ञा से ही लक्ष्मण ने ऐसा असत्यवादन भी किया है कि वे सीता को गंगातट पर स्थित मुनिवरों के आश्रम में विहार के लिए ले जा रहे हैं। इस प्रकार लक्ष्मण के लिए कभी कोई काम योग्य या अयोग्य, न्याय या अन्याय, धर्म या अधर्म—ऐसा दुविधापूर्ण नहीं रहा है। राम की आज्ञा का अनुसरण करना ही लक्ष्मण के जीवन का एकमात्र मंत्र रहा है।

फिर भी एक बार लक्ष्मण ने राम की इच्छा का अनादर किया था, ऐसी छोटी सी परंतु उल्लेखनीय बात रामायण में अवश्य है। राज्याभिषेक के समय राम ने युवराज पद पर लक्ष्मण को प्रतिष्ठापित करने के लिए कहा है, परंतु लक्ष्मण ने इस पद को स्वीकार नहीं किया है। लक्ष्मण को युवराज पद पर नियुक्त करने से इक्ष्वाकु-कुल की ज्येष्ठत्व की परंपरा का उल्लंघन होता था, यह महत्त्वपूर्ण बात है। अग्रता-क्रम से राम के बाद भरत बड़ा भाई है, लक्ष्मण नहीं। राम ने स्नेहवश होकर शायद लक्ष्मण को युवराज पद देने के बारे में सोचा हो, तो भी उसमें औचित्य नहीं है, यह सोचकर लक्ष्मण ने उसको अस्वीकार किया होगा, ऐसा संभव है। लक्ष्मण की दृष्टि से राम के उसके प्रति स्नेह से विशेष उनकी धर्मिष्ठ के रूप में प्रतिभा को कोई आँच न आए, यह अधिक श्रेयस्कर होगा, यह तर्कपूर्ण लगता है। जो भी हो, परंतु लक्ष्मण का विशेष व्यक्तित्व नि:शब्द रहने के बावजूद यहाँ मुखरित होता है।

लक्ष्मण के व्यक्तित्व के एक विशेष पहलू का यहाँ उल्लेख करना अत्यंत आवश्यक है। लक्ष्मण की औसत प्रकृति राजसी है। धैर्य और सहनशीलता—ये दोनों लक्ष्मण के व्यक्तित्व के सहज अंश नहीं हैं। फिर भी रामायण में कुछ प्रसंग ऐसे हैं जब राम ने धैर्य व सहनशीलता दोनों गँवा दिए हैं, परंतु ऐसे समय में लक्ष्मण ने सहारा देकर उन्हें स्वाभाविकता प्रदान की है। अरण्यकांड में विराध के साथ संघर्ष के क्षण में या फिर रावण द्वारा किए गए सीताहरण के पश्चात् राम बेचैन हो जाते हैं, वह विलाप करते हैं, दैव को दोष देते हैं, आँसू बहाते हैं, तब लक्ष्मण उन्हें धैर्य प्रदान करते हैं। पौरुष तथा प्रारब्ध को जोड़कर लक्ष्मण परम नीतिपूर्ण वचन उच्चारित करते हैं। लक्ष्मण ने धैर्य गँवा दिया हो और राम ने उन्हें पुन: धैर्य की प्राप्ति करवाई हो, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। राम की प्रकृति के लिए यह सहज है, परंतु जब इसके विपरीत घटित होता है तब लक्ष्मण के व्यक्तित्व में निहित यह विशेष पहलू हमें आकृष्ट करता है। अंग्रेजी में हम जिसे Man of the crisis कहते हैं, ऐसा यह पहलू है।

लक्ष्मण के समग्र चरित्र-चित्रण की विशिष्टता इसमें निहित है कि आजीवन उसके बरताव में कहीं भी विसंवाद नहीं दिखाई दिया। रामभक्ति और ज्येष्ठ भ्राता के प्रति स्नेह के विषय में आरंभ में उन्होंने जैसा बरताव किया है, उसमें अंत तक कहीं भी कोई परिवर्तन लेशमात्र भी प्रकट नहीं होता। राम के जीवन में सीता की अग्नि-परीक्षा तथा सीता-त्याग जैसे दो प्रसंग राम के दैवी स्वरूप में विसंवाद उत्पन्न कर दें, ऐसा व्यवहार दरशाते हैं। सीता ने भी कांचनमृग के पीछे गए हुए राम की सहायतार्थ जाने के लिए लक्ष्मण से जो कुछ भी कहा, उसमें सीता की सौम्य तथा आभिजात्यपूर्ण प्रकृति को कहीं कलंक लग जाता है। लक्ष्मण के पात्र में ऐसा कहीं घटित नहीं होता। यही उनके व्यक्तित्व की विशेषता है। रामभक्ति जैसा ही यह सातत्य भी लक्ष्मण को हमारे प्रणाम का अधिकारी बनाता है।

❑

—१४—
सीता

रामायण ग्रंथ की रचना महाकवि ने स्पष्टत: राम के पात्र को केंद्र में रखकर की थी, इसमें कोई संदेह नहीं। रामायण शब्द का अर्थ ही है : 'राम का अयन' अर्थात् राम का परिभ्रमण। परंतु इस शब्द का अर्थ 'रामा का आयन' भी निकाला जा सकता है। सीता के लिए इस ग्रंथ में जिन अलग-अलग शब्दों के प्रयोग हुए हैं, उनमें एक शब्द 'रामा' भी है। महाकवि ने वैदेहनंदिनी, जनक दुलारी, मिथिलात्मजा, जानकी—इस प्रकार विविध नामों से सीता का परिचय करवाया है। उसी प्रकार अनेक बार 'रामा' के रूप में भी उन्हें संबोधित किया है। इस प्रकार रामायण मात्र राम के ही नहीं, सीता के परिभ्रमण का भी ग्रंथ बन जाता है। सीता रामायण का एक ऐसा अद्‌भुत एवं अनोखा पात्र है कि हमारे कवि ने तो राम की तुलना सीता से करते हुए स्पष्ट रूप से कह दिया है—

सीताजीनी तोले तमे ना आवो
मारा राम तमे सीताजीनी तोले न आवो।

राम से भी अधिक लोक-संस्कृति ने जिन्हें ऊँचा और आदरणीय स्थान दिया है, ऐसी सीताजी के जन्म व पालन-पोषण के विषय में विश्वसनीय रूप में हम बहुत अधिक नहीं जान सकते। अलग-अलग रामायणों में सीता के जन्म तथा लालन-पालन के विषय में भले अलग-अलग बातें कही गई हों, किंतु आदिकवि ने मूल कथानक में ऐसा कुछ नहीं कहा है। जिस नाम का उच्चारण करने मात्र से आज सैकड़ों वर्षों बाद भी करोड़ों व्यक्तियों के मन में एक विशेष व्यक्तित्व का आविर्भाव होता है और आंगिक अभिनय से मस्तक भले नत न हो, परंतु मन में एक विशेष प्रकार का अहोभाव प्रकट हुए बिना नहीं रहता, ऐसे इस पात्र के जन्म तथा पालन-पोषण के विषय में बालकांड और उत्तरकांड, रामायण के इन दोनों कांडों में जो कुछ-एक बातें कही गई हैं, उन्हें ही प्रमाणभूत मानना पड़ेगा (यद्यपि समग्र बालकांड तथा उत्तरकांड—दोनों ही वाल्मीकि की रचना नहीं हैं और मूल रामायण में वे बाद में जोड़े गए अंश हैं, ऐसा विवाद भी हुआ है और अनेक विद्‌वानों ने इन दोनों कांडों को रामायण के ही अधिकृत अंश के रूप में स्वीकार नहीं किया है, इसे हमें ध्यान में रखना चाहिए। इसके बावजूद महाराजा सयाजीराव यूनिवर्सिटी द्‌वारा तैयार की गई रामायण की अधिकृत प्रति में इन दोनों कांडों को स्थान दिया गया है, इसलिए हमें इस समय तो इसी को स्वीकार करना चाहिए)।

विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा के लिए गए राजपुत्र जिस मार्ग से गए थे, उस मार्ग से वापस नहीं लौटे। विश्वामित्र ताड़का-वध द्‌वारा स्त्री-शक्ति के विपरीत रूप का विनाश करवाकर तथा अहिल्या के निमित्त से स्त्री-शक्ति के सौंदर्य तथा पावित्र्य का संस्पर्श कराकर राम को लेकर मिथिला के मार्ग से अयोध्या वापस लौटे, इसमें महामनीषी वाल्मीकि का अवश्य कोई गोपित उद्‌देश्य होना चाहिए, हालाँकि यह अलग चर्चा का मुद्‌दा बन जाता है। विश्वामित्र जब पहली बार राम-लक्ष्मण के साथ मिथिला नगरी में राजा जनक से मिलते हैं, उस समय भगवान् शिव के धनुष के राजकुमार भी दर्शन करें, इतनी ही सामान्य अपेक्षा विश्वामित्र ने व्यक्त की है। राम और लक्ष्मण ने गुरु विश्वामित्र से धनुर्विद्या सीखी थी। शिक्षा की इस प्रक्रिया के एक भाग के रूप में शिवधनुष को जानना और उसकी विशेषताओं को समझना जैसा ही कोई उद्‌देश्य इसके पीछे अभिप्रेत रहा हो, ऐसा लगता है।

मिथिला में कोई सीता-स्वयंवर आयोजित नहीं हुआ था। ऐसे किसी स्वयंवर का उल्लेख वाल्मीकि रामायण में नहीं है। जनक से मिलकर विश्वामित्र ने इस सुप्रसिद्‌ध शिवधनुष के दर्शन राजकुमार करें, ऐसी इच्छा प्रकट की है। जनक ने ऋषि की यह इच्छा स्वीकार की और शिवधनुष के साथ जुड़ी अपनी पुत्री सीता के विवाह के विषय की

बात भी की। सीता 'वीर्यशुल्का' अर्थात् पराक्रम से ही प्राप्त की जा सके, ऐसा मनोरथ पिता के रूप में जनक के चित्त में था। सीता को प्राप्त करने के लिए इससे पूर्व जिन राजाओं और राजकुमारों ने इच्छा प्रकट की, उनके सामने राजा जनक का एक ही प्रस्ताव था : जो कोई राजपुत्र इस शिवधनुष को उठाकर उसकी प्रत्यंचा चढ़ाने में समर्थ होगा, उसे ही सीता पत्नी के रूप में प्राप्त हो सकेगी। अनेक राजाओं ने ऐसे प्रयत्न किए थे, परंतु कोई भी सफल नहीं हुआ था। इतना कहने के बाद जनक ने आगे कहा है कि यदि राम इस धनुष की प्रत्यंचा चढ़ा सकेंगे तो वे सीता का कन्यादान करेंगे।

इस प्रकार राम तथा लक्ष्मण गुरु के साथ जनक के यज्ञ के निमित्त ही आए थे तथा उनका उद्देश्य मात्र शिवजी के इस शक्तिशाली और विशिष्ट धनुष का दर्शन करना ही था। सीता के विषय में कोई जानकारी उन्हें थी ही नहीं। धनुष का दर्शन करने के बाद विश्वामित्र की आज्ञा से राम ने यह धनुर्भंग किया और फलस्वरूप मिथिला की इस 'वीर्यशुल्का' पुत्री को प्राप्त किया।

विवाह के निमित्त तथा विवाह के बाद अयोध्यावास के दरम्यान भी सीता के विषय में कोई भी उल्लेखनीय बात रामायण में नहीं हुई है। सामान्य रूप से हम ऐसा मानते हैं कि विवाह के बाद तुरंत ही भरत ननिहाल गए और राजा दशरथ ने राम के राज्याभिषेक का विचार किया। इस मान्यता का एक कारण यह है कि अभी तो यह विधि मिथिला में आयोजित हो रही थी, उसी समय भरत के मामा युधाजित भरत से मिलने और उन्हें ननिहाल ले जाने के लिए अयोध्या आए थे। अयोध्या से सभी मिथिला गए हैं, यह जानकर युधाजित विवाह प्रसंग में ही मिथिला भी पहुँचे थे और विवाह संपन्न होने के बाद सभी जब अयोध्या वापस लौटे तो थोड़ा रुककर युधाजित राजा दशरथ की सम्मति से भरत को अपने साथ लेकर केकेय गए, ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। इसका कारण हमें तत्काल समझने को नहीं मिलता, पर अरण्यकांड में सीताहरण के प्रसंग में साधुवेशधारी रावण को अपना परिचय देती हुई सीता ने जो कहा है, उससे इसका थोड़ा-बहुत अंदाजा मिलता है, पर इसके साथ ही दूसरी समस्या भी पैदा होती है। अरण्यकांड, सर्ग ४७/४ और सीता इस प्रकार कहती हैं :

उषित्वा द्वादस समा इक्ष्वाकूणां निवेशने।
भुञ्जाना मानुषान भोगान सर्वकामसमृद्धिनी॥ ४॥

× × ×

मम भर्ता महातेजा वयसा पञ्चविशंकः।
अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते॥ १०॥

अर्थात विवाह के बाद बारह वर्ष तक इक्ष्वाकुवंशी महाराज दशरथ के महल में पति के साथ मैंने सभी मानवोचित भोग भोगे हैं। उस समय (अर्थात् अरण्यवास के समय) मेरे महातेजस्वी पति की आयु पच्चीस वर्ष थी और मेरे जन्म से लेकर अरण्यवास तक के वर्षों को गिनती में लें तो मेरी आयु उस समय अठारह वर्ष की थी।

ये दोनों श्लोक यह दरशाते हैं कि विवाहित-जीवन के बारह वर्ष अयोध्या में व्यतीत करने के बाद ही वनवास का प्रसंग उपस्थित हुआ है। इन बारह वर्षों को यदि प्रमाणभूत मानें तो युधाजित भरत को विवाह के बाद तुरंत ही थोड़ा रुककर ले गए, ऐसा कहने में विकट प्रश्न उपस्थित होता है। वनवास के समय राम की अवस्था यदि पच्चीस वर्ष और सीता की अठारह वर्ष रही हो तथा वैवाहिक-जीवन के बारह वर्ष को लक्ष्य में लें तो विवाह के समय राम और सीता की आयु क्रमशः तेरह और छह वर्ष होती है। पर रामायण या महाभारत जैसे ग्रंथों को गणतीय स्पष्टता से न तो मूल्यांकित किया जा सकता है और न ही उनका आस्वाद ही लिया जा सकता है। अयोध्या में वैवाहिक-जीवन के जिन बारह वर्षों का उल्लेख यहाँ हुआ है, उसके विषय में कोई विवरण रामायण में उपलब्ध नहीं है।

सीता एक पात्र के रूप में कभी-कभी दिखाई देती हैं अथवा परिवारजनों के संवाद में उनका उल्लेख होता है। इसके सिवा आरंभ में वे कहीं दिखाई नहीं देतीं। राम के राज्याभिषेक के बदले जब राम ने वनवास की आज्ञा प्राप्त की और इस विपरीत समाचार के साथ वे सीता के पास आए, उस समय पहली बार सीता के मुख से संवाद प्रकट हुआ है। उस समय राम के चेहरे पर उदासी थी, अंग प्रस्वेद से नितर रहे थे और जैसाकि महाकवि कहते हैं कि राम अपने शोक को नियंत्रित करने में निष्फल हो गए थे। उनकी ऐसी अवस्था देखकर सीता अपने पात्रालेखन का जो सबसे पहला वाक्य बोलती हैं, वह इस प्रकार है, ''प्रभु! इस समय आपकी दशा ऐसी क्यों है? अभिषेक के इस अवसर पर प्रसन्नता के बदले ऐसी उदासी क्यों?'' प्रत्युत्तर में राम अपने वनवास की बात करते हैं और अपनी अनुपस्थिति में भरत, कौशल्या, दशरथ आदि के साथ सीता को कैसा व्यवहार करना है, इसकी सलाह देते हैं तो सीता का प्रतिभाव देखने लायक है। सीता व्यग्र नहीं होतीं, उलटे पति की सलाह और सुझाव सुनकर हँस पड़ती हैं और कहती हैं : ''मुझे यहाँ छोड़कर वनवास करने की आपकी यह बात हास्यास्पद ही है। मुझे यहाँ किसके साथ कैसे बरताव करना है, इसकी सीख मेरे माता-पिता ने मुझे कौमार्यावस्था में ही अच्छी तरह दी है, इसलिए इस विषय में मुझे कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं।''

सीता के इस प्रतिभाव से उनके व्यक्तित्व के दो पक्ष प्रथमदृष्टया प्रकट होते हैं। उनके मन से राज्यारोहण और वनवास—इन दो परिस्थितियों में कोई अंतर नहीं, परंतु पति की अनुपस्थिति में रहना, इसकी वे कल्पना भी नहीं कर सकतीं। इतना ही नहीं, सीता किसके साथ क्या बरताव करें, इस संबंध में राम की सलाह पर सीता ने अप्रसन्नता ही प्रकट की है। सीता के पतिपरायणा तथा पति को ही केंद्र में रखनेवाली नारी होने के विषय में हमने बहुत सुना है, पर यहाँ प्रथम दृष्टि में ही राम ऐसा कोई उपदेश सीता को न दें, ऐसा वे दृढ़ता से किंतु नम्रतापूर्वक कह देती हैं।

राम वनवास के कष्टों का वर्णन करके ऐसे घोर वन में सीता की सुरक्षा और सुविधाएँ कितनी दुष्कर हैं, इसका भय दरशाते हैं और सीता को अपने साथ वन में ले जाने की अनिच्छा व्यक्त करते हैं तो सीता ने जो दो बातें कहीं हैं, वे अत्यंत ध्यान देने योग्य हैं। सीता कहती हैं—''वन में दोष और दु:ख तो हैं ही, परंतु मेरी हस्तरेखा में वनवास निश्चित ही है। कौमार्यावस्था में पिता के घर आए ब्राह्मणों ने मेरा जो भविष्य-कथन किया है, उसमें मेरे लिए वनवास निश्चित है, ऐसा कहा था। एक अन्य भिक्षुकी ने भी मेरी माता से मेरे कथित वनवास के बारे में भविष्यवाणी की थी (अयोध्याकांड-२९/९, १०, १३)।'' इस प्रकार वनवास राम के लिए भले ही अप्रत्याशित रहा हो, सीता के लिए तो वह निश्चित ही था और सीता इसके लिए मानसिक रूप से तैयार भी थीं। जो भवित वे जानती थीं, उसी को वे स्वीकार कर रही थीं।

परंतु सीता के मुख से कहलवाई गई दूसरी बात बहुत ही आकर्षक और मनोरम है। राम वन के जीवन में जो असुरक्षा और कष्ट हैं, उनके कारण सीता को साथ ले जाने में संकोच करते हैं, यह जानकर सीता जो वाक्य कहती हैं, वे तत्काल सीत के पात्र को औरों से ऊँचा बना देते हैं। वे वाक्य इस प्रकार हैं :

किं त्वामन्यत वैदेह : पिता मे मिथिलाधिपतः।
राम जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम्॥ ३॥
अनृतं बत लोकोऽयंमज्ञानाद् यदि वक्ष्यति।
तेजो नास्ति परं रामे तपतीव दिवाकरे॥ ४॥
किं हि कृत्वा विषण्णास्त्वं कुतो वा भयमस्ति ते।
यत् परित्यक्तुकामस्त्वं मामनन्य परायणाम्॥ ५॥

(अयोध्याकांड-३०/३-४-५)

—हे राम, मेरे पिता ने आपको जामाता के रूप में स्वीकार किया, उस समय संभवत: उन्हें पता नहीं रहा होगा कि आप शारीरिक रूप से ही पुरुष हैं, पर मानसिक रूप से तो स्त्री ही हैं। मुझे छोड़कर यदि आप अकेले ही जाएँगे तो जो लोग ऐसा कहते हैं कि श्रीरामचंद्र में तेज और पराक्रम नहीं, उनकी बात गलत नहीं साबित होगी। आपके मन में क्या ऐसा कोई भय है कि जिस स्त्री को एकमात्र आपका ही आश्रय है, उसकी रक्षा आप नहीं कर सकेंगे, इसलिए उसका त्याग कर रहे हैं?

इतना अपर्याप्त हो, इस प्रकार आगे श्लोक आठ तथा नौ में ऐसी धारदार वाणी का उच्चारण करती हैं कि आप क्या पत्नी की कमाई पर गुजर करनेवाले नट की तरह मुझे अन्यों के हाथ में सौंपना चाहते हैं? यदि भरत की वशवर्ती और आज्ञाकारिणी ही होकर रहना हो तो आप ही यहाँ रहें, मैं नहीं रहूँगी।

सीता के ये वाक्य हमें महाभारत में आहत द्रौपदी जो कुपित वाणी बोलती है, उसकी याद दिलाते हैं। किसी भी पुरुष को उसके पौरुष को चुनौती देना और परोक्ष रूप से उसे यह लक्षित करना कि वह पुरुषत्वहीन है, नितांत दुर्बल पुरुष में भी चेतना का प्राण डालने जैसा है। इसमें कोई बाह्य विशेषता नहीं। यह एक प्रकृतिजन्य रचना है। इसे हम मनोवैज्ञानिक अभिराम भी कह सकते हैं। सीता ने यह अभिगम यहाँ बहुत ही विनम्रता से किंतु आर-पार उतर जाए, ऐसे धारदार ढंग से प्रस्तुत किया है। रामायण की परवर्ती घटनाओं में अग्नि-प्रवेश अथवा भूमि-प्रवेश करती सीता का विनम्रता से तथा पूर्णत: व्यक्तित्व का विलोपन हो गया हो, ऐसी दिखाई देती हैं। आरंभकाल की यह सीता उससे बिलकुल अलग दिखाई देती हैं। सीता के इस अद्‌भुत दर्शन के विषय में रामायण के विद्‌वानों ने अथवा सीता के चरित्रकारों ने पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। सीता के इन धारदार वचनों का तत्काल गहरा असर भी पड़ा है। राम ने तुरंत कहा है कि स्वयंभू ब्रह्मा की भाँति मुझे किसी का तनिक भय नहीं है। इस तरह सीता को वनवास की सम्मति मिल गई।

मात्र सीता के ही जीवन की नहीं, बल्कि इक्ष्वाकु-कुल के करुणतम क्षणों में भी सीता निर्लेप ही रही हैं। अरण्यवास के अनुकूल वल्कल धारण करने के लिए स्वयं माता कैकेयी वस्त्र देती हैं और राज-परिधान व अन्य आभूषण त्यागने के लिए कहती हैं तो उस समय सीता किंचित् भयभीत तो अवश्य हो जाती हैं, किंतु उन्हें यह आभूषण त्यागने का भय नहीं होता है। इस भय का कारण वल्कल-वस्त्र कैसे धारण करें, इसका अज्ञान है। ऐसा वस्त्र धारण करने में वे बार-बार भूल कर बैठती हैं और फिर लज्जित अवस्था में वस्त्र का छोर हाथ में पकड़कर खड़ी रह जाती हैं, जबकि सीता ने वनवास इस वस्त्र में नहीं किया है। दशरथ ने उन्हें तमाम राज-परिधानों तथा आभूषणों को धारण कराकर ही वन में जाने के लिए कहा है।

वन के मार्ग में गंगा तथा यमुना नदियों के प्रवाह को पार करते समय सीता ने इन सरिताओं के समक्ष प्रार्थना की तथा इन दोनों के पास मनौती भी माँगी है। प्रार्थना के इन शब्दों के विषय में विभिन्न विवाद होते रहे हैं।

सीता ने गंगा से कहा है—''हे माता! हम अयोध्या में पुन: सुरक्षित वापस लौटेंगे तो मैं 'सुराघट सहस्त्रेण' तथा 'मांसभूतउदनेन' तेरा पूजन करूँगी।'' यमुना के प्रवाह की प्रार्थना करते समय सीता ने 'सुराघटशतेन' शब्द का प्रयोग किया है। इसका सीधा अर्थ एक हजार घड़ा सुरा अर्थात् मदिरा और मांस आदि पदार्थ होता है। पर मांस शब्द का अर्थ फल का गर्भ तथा पर्ण (पत्ता) भी होता है। सीता मांसाहार से घृणा करती हैं, ऐसा उल्लेख अन्यत्र मिलता है। इसके आधार पर यदि प्रयुक्त किए गए मांस शब्द का अर्थ फल का गर्भ अथवा पर्ण करें तो फिर राक्षस जब मांसाहार करते हैं तो उस मांस को शुद्‌ध मांस के रूप में अर्थघटन करने में विरोध है।

ऐसा ही विवाद 'सुरा' शब्द के विषय में भी होता रहा है। सामान्य समझ के अनुसार तो इक्ष्वाकुवंशी मांस और मदिरा दोनों को अग्राह्य पदार्थ न मानते रहे हों, यह अधिक संभव है। फिर भी सुंदरकांड सर्ग-३६/४१ में हनुमान ने

सीता से जो कहा है, वह भी ध्यान में रखने योग्य है। हनुमान ने कहा है कि कोई रघुवंशी मांस नहीं खाता और मदिरापान नहीं करता। चित्रकूट के मार्ग पर जा रहे भरत के स्वागतार्थ भरद्वाज ऋषि ने जो पदार्थ धरे हैं, उसमें 'मांस' तथा 'सुरा' दोनों शब्दों के परंपरागत अर्थ भी दरशाए हैं।

चित्रकूट छोड़कर दंडकारण्य में वास करने के लिए उद्यत राम से सीता ने जो कहा है, उसे भी अवश्य ध्यान में रखना चाहिए। दंडकारण्य में खर आदि राक्षस वहाँ वास करनेवाले ऋषियों के यज्ञ में विक्षेप करते हैं तथा हिंसाचार करते हैं—यह जानने के बाद राम स्वयं दंडकारण्य में जाकर उन राक्षसों का नाश करने का मन-ही-मन निश्चय करते हैं तो सीता ने उन्हें इस प्रकार रोका है—''हे राम! इस जगत् में तीन बड़े व्यसन हैं। एक तो झूठ बोलना और दूसरा परस्त्रीगमन। ये दोनों तो आपके लिए असंभव ही हैं, पर जो तीसरा व्यसन है, उससे दूर रहने की मैं आपसे विनती करती हूँ। तीसरा अर्थात् जिसके साथ हमारा कोई वैर न हो, उसके प्रति क्रूर अथवा हिंसक बरताव नहीं करना चाहिए। दक्षिणारण्य के राक्षसों के साथ हमारा कोई वैरभाव नहीं और जो हमारे अपराधी नहीं, उनका वध करना सुकृत्य नहीं माना जाता। हम यहाँ वनवासी हैं, इसलिए तप हमारा धर्म है और हिंसा हमारे लिए अधर्म है।''

यह अलग बात है कि सीता की यह बात राम ने स्वीकार नहीं की और 'क्षत्रिय होने के नाते ऋषियों के यज्ञ में विघ्न डालनेवाले अधर्मी राक्षसों का वध करना धर्म है', ऐसा कहा। सीता ने इसके बाद राम की बात को स्वीकार तो किया, पर उन्होंने जो कहा, उसके संदर्भ में राम द्वारा किया गया बाली-वध भी देखने जैसा है।

शूर्पणखा की घटना घटित होने के बाद दंडकारण्य में बसनेवाले राक्षसों के साथ का वैर तीव्र हुआ और उसके फलस्वरूप ही सीताहरण की घटना हुई। अपहरण के लिए राम और लक्ष्मण दोनों कुटीर से दूर जाएँ, इस आशय से रावण ने मारीच को कांचनमृग का रूप धारण करवाया। इस कांचनमृग को देखते ही सीता मोहित हो गईं और इस मृग को जीवित अथवा उसे मारकर उसका मृगचर्म ले आने के लिए उन्होंने राम से आग्रह किया। जो सीता अभी तक अकारण हिंसा का विरोध कर रही थीं, उसी सीता ने इस मृग के वध का बाकायदा आग्रह किया। 'ऐसा सोने का मृग हो ही नहीं सकता और वह अवश्य ही कोई राक्षसी माया होगी', लक्ष्मण की इस चेतावनी पर भी सीता ने ध्यान नहीं दिया। सीता की रक्षा का दायित्व राम लक्ष्मण को सौंपकर गए तथा मायावी मृग ने मृत्यु के समय सीता और लक्ष्मण के नाम का आर्त्तनाद किया, यह घटना सर्वविदित है। इस मरणोन्मुख स्वर को सुनकर सीता लक्ष्मण से राम की सहायता के लिए जाने को कहती हैं। पर लक्ष्मण उस समय भी दृढ़ और श्रद्धेय रहे हैं। यह चीख राम की हो ही नहीं सकती और राम को इस तरह कोई मार ही नहीं सकता, ऐसा विश्वास लक्ष्मण व्यक्त करते हैं।

उस क्षण सीता ने जो आचरण किया है, वह उनके समग्र चरित्र के लिए बहुत बड़ा प्रश्न उपस्थित करता है। जिस लक्ष्मण ने मात्र राम के प्रति अपने प्रेम से प्रेरित होकर वनवास स्वीकार किया था और जिन्होंने अब तक के बीते बारह वर्षों में सतत निर्व्याज सेवा की थी, उस लक्ष्मण के लिए धधकते अँगारे समान कुवचन सीता ने उस समय कहे हैं। लक्ष्मण को आगे एक भी शब्द बोले दिए बिना सीता ने कहा, ''हे लक्ष्मण, तुम्हारे भैया संकट में हैं, फिर भी तुम उनकी मदद के लिए दौड़कर नहीं जा रहे, इसलिए मुझे तो यही लग रहा है कि मुझे प्राप्त करने के लिए तुम राम का नाश होने की इच्छा कर रहे हो। तुम्हें भाई के लिए कोई प्रेम नहीं, किंतु मेरे लिए तुम्हारे मन में मोह उत्पन्न हुआ है।'' इतना भी जैसे अधूरा हो, इस तरह सीता ने जिन्हें अभद्र कहा जा सके, ऐसे शब्द भी कहे हैं : ''हे आर्य, निर्दय, क्रूरकर्मा, कुलांगार, दुष्ट! राम पर विपत्ति आए, यही तुम्हें भाता है, ऐसा लगता है। तुम प्रच्छन्न शत्रु हो। ऐसा लगता है कि राम के साथ वन में आने का कारण तुम्हारे मन में मेरी प्राप्ति ही होनी चाहिए। या तो फिर तुम भरत के कहने से ही यहाँ आए होंगे।'' इतना कहने के बाद सीता दोनों हाथों से अपनी छाती और पेट कूटने लगती हैं।

लक्ष्मण के लिए क्या, आज हजारों वर्ष बाद भी हमारे जैसे सामान्य पाठक के लिए भी यह दृश्य और ये शब्द अत्यंत कष्टदायक लगते हैं। अति प्रेम व्यक्ति को किस हद तक आशंकित और असंतुलित कर देता है, ऐसा मनोवैज्ञानिक विधान पकड़कर हम शायद सीता का बचाव करने का प्रयत्न भले ही करें, परंतु सीता के पात्र के सातत्य को लक्ष्य में लें तो यह आचरण और ये वचन किसी तरह उससे मेल नहीं खाते हैं। महाकाल की करुणता यह रही है कि सीता ने जैसा अभद्र व्यवहार लक्ष्मण जैसे पवित्र पुरुष के साथ किया, उसकी ही प्रतिध्वनि पड़ती हो, इस तरह ऐसा ही अभद्र व्यवहार उन्हें उनके ही प्रिय पति और परम पवित्र माने जानेवाले पुरुष मर्यादा पुरुषोत्तम राम से आगे चलकर प्राप्त हुआ है।

युद्ध के अंत में सीता जब विजयी राम के समक्ष उपस्थित हुई, तब राम ने उन्हें ऐसी ही आशंका और ऐसे ही अपशब्दों से दुत्कारा था। जिस पति का दर्शन करने के लिए सीता ने अशोक वाटिका में अपार व्यथा सहन की थी, उस पति ने सीता को अस्वीकार करके कहा, ''अब मेरे कुल पर लगा कलंक तथा मेरी वीरता पर लगे दोष का निवारण हो गया। हे सीता, रावण ने तुम्हें अपनी गोद में उठाया था और तुम्हारी जैसी सुंदर स्त्री अपने घर में हो तो रावण तुमसे दूर किस प्रकार रह सका होगा? अब मेरे जैसा कुलवान् पुरुष तुम्हें स्वीकार कर कैसे सकता है? तुम आज मुझे अत्यंत अप्रिय लग रही हो और तुम्हें अब भरत, लक्ष्मण शत्रुघ्न, सुग्रीव या विभीषण—जिसके पास से भी सुख मिलता हो, उसके साथ रहो।'' (यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि राम अपने जिस कुलाभिमान की बात यहाँ कर रहे हैं, उसी कुल में लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न पैदा हुए हैं, यह बात भुला दी गई है।)

राम के ये असह्य कटुवचन सुनने के बाद सीता ने जो प्रतिभाव प्रकट किया है, वह वनवास के प्रारंभ में अयोध्या में पति के समक्ष दृढ़ता से बोलती सीता के प्रतिभाव जैसा नहीं था। सीता ने बहुत ही सौम्यता से, पर उत्तर सीधे अंतस में उतर जाए, इस प्रकार कहा है—''हे वीर, आप ये 'प्राकृतः प्राकृतामिव' वचन कह रहे हैं। जिस तरह कोई हलके वर्ण का पुरुष वैसी ही हलके वर्ण की स्त्री को कहे, उसी तरह आप मुझे कह रहे हैं।'' यहाँ 'प्राकृत' शब्द ध्यान देने लायक है। हम बोलचाल की भाषा में जिन्हें निचले स्तर के अभद्र लोग कहते हैं, ऐसे असंस्कारी पुरुषों का इस 'प्राकृत' शब्द में समावेश होता है। सीता ने इस विकट क्षण में भी जो कहने योग्य है, वह निःशंक भाव से कहा है।

सीता के आग्रह से लक्ष्मण ने वनदेवता को सीता की रक्षा का भार सौंपकर वन में प्रयाण किया (लक्ष्मण ने कुटीर के चारों ओर नियंत्रण-रेखा खींची थी, ऐसी कोई कथा वाल्मीकि रामायण में नहीं है।) उस क्षण अकेली पड़ी सीता के समक्ष रावण साधुवेश में उपस्थित हुआ।

वाल्मीकि रामायण में तापसवेशधारी रावण और सीता के बीच जो संवाद हुए हैं, उससे भी हमारे जैसे पाठकों के मन में अनुत्तरित रहें, ऐसे प्रश्न पैदा होते हैं। सीता के समक्ष उपस्थित होने के बाद रावण जो पहला वाक्य बोलता है, वह इस प्रकार है—''सुवर्ण जैसी कांतिवाली तथा रेशमी वस्त्र धारण करनेवाली हे सुंदरी! तुम्हारे हाथ, पग, मुख आदि अंग कमल जैसे हैं। हे वरारोहे! (यह संबोधन ध्यान देने योग्य है) तुम कामदेव की पत्नी रति तो नहीं न?'' इतना कहने के बाद रावण ने सीता के अंग-उपांगों का जो अभद्र वर्णन किया है, वह ध्यान में लेने लायक है। ऐसा वर्णन लगातार पूरे सोलह श्लोकों में किया गया है।

सीता की मनोदशा एक क्षण पूर्व ही राम के विषय में चिंता और लक्ष्मण के साथ हुए विवाद के कारण अशांतिग्रस्त ही रही होगी। इसके बावजूद रावण के ऐसे हलकी लुब्धता से भरे प्रशंसात्मक वाक्य सुनने के बाद सीता उसका स्वागत करने को तत्पर हो जाती हैं। रावण तापसवेशधारी है, साथ ही अतिथि है, इसलिए उसका अनादर हो ही नहीं सकता, ऐसी स्पष्टता उसके बाद के श्लोक में महाकवि ने की है; पर यहाँ प्रश्न यह पैदा होता है

कि अतिथि अथवा संन्यासी का भी एक निश्चित धर्म होता है। यदि इस धर्म का उल्लंघन अतिथि करे तो उसका अनादर करने में गृहस्थ-धर्म कैसे चलित हुआ कहा जा सकता है? यहाँ लिखने में भी सामान्य मर्यादा का लोप होता लगे, ऐसे देह-सौंदर्य का वर्णन रावण ने सीता के लिए किया है। फिर भी सीता ने अतिथि-धर्म का अनुसरण किया, रावण को आसन दिया, भोजन दिया और जल दिया। (सामान्य लोकमान्यता के अनुसार रावण ने किसी भिक्षा की याचना नहीं की थी।)

इसके बाद रावण द्वारा पूछे गए प्रश्न के उत्तर में सीता ने पूरे बाईस श्लोकों तक अपने जन्म की, राम के राज्याभिषेक की तथा अरण्यवास की बात विस्तारपूर्वक कही है। यह पूरा संवाद ऐसा है, जो पाठक के चित्त में कई अनुत्तरित प्रश्न पैदा करता है। सीता की मनोदशा स्वस्थ नहीं थी और इस मानसिक अस्वस्थता के बीच उन्होंने लक्ष्मण जैसे स्वजन को भी दुत्कार दिया था। ऐसा होने के बावजूद दूसरे ही क्षण रावण के मुँह से लोलुप बातें सुनने के बाद भी सीता ने उसका स्वागत किया। इतना ही नहीं, बल्कि उनके समक्ष अपना विस्तृत इतिहास वर्णित किया है। रावण ब्राह्मण वेशधारी था और ब्राह्मण द्वारा पूछे गए प्रश्नों के उत्तर न देना, उसका अनादर कहा जाएगा, ऐसा सीता एक क्षण के लिए सोचती तो हैं, पर रावण के प्रश्नों के उत्तर सीता एक वाक्य में भी दे सकती थीं। इसमें मिथिला, अयोध्या राम का राज्याभिषेक, कैकेयी का वरदान, अपनी आयु तथा राम की आयु, महाराज दशरथ की काम-पीड़ित अवस्था—यह सब विस्तारपूर्वक कहने का औचित्य नहीं दिखाई देता है।

रावण ने जिस समय सीता का अपहरण किया, उस समय सीता ने जो क्रंदन किया है, उसमें सबसे पहले उन्होंने लक्ष्मण का स्मरण किया है, यह बात ध्यान में रखनी चाहिए। अपहृता सीता को आरंभ में रावण ने अपने अंत:पुर में रखा है और राम का त्याग करके स्वयं उसे स्वीकार करने के लिए भरपूर प्रलोभन दिए हैं। लेकिन रावण के इस तमाम वैभव तथा सामर्थ्य को सीता ने ठुकरा दिया। इसके बाद रावण ने सीता को अशोक वाटिका का एकांतवास दिया तथा उनके चित्त में भय पैदा करने के लिए भयंकर राक्षसनियों की नियुक्ति की। इस भय के प्रभाव में सीता ने पूरे दस महीने बिताए हैं। (सुंदरकांड-३७/८)।

इन दस महीनों के दौरान रावण द्वारा सीता को समझाने के अनेक प्रयत्न हुए, पर सीता इन सबके बीच अपूर्व मनोबल और प्रचंड संकल्प-शक्ति के साथ अडिग रही हैं। अंतत: रावण ने सीता को अपनी बात को स्वीकार करने के लिए दो महीने की समय-सीमा निर्धारित कर दी तो सीता ने यह समयावधि पूरी हो, उससे पहले प्राण-त्याग करने का संकल्प भी किया है। प्राण-त्याग के इस संकल्प के क्षण में सीता राम के विषय में एक रसप्रद व स्त्री-सहज कल्पना भी करती हैं। सुंदरकांड-२८/१४-१५ में सीता ने जिस श्लोक का उच्चारण किया है, वह इस प्रकार है—''हे राम! आप तो अब पिता की आज्ञानुसार वनवास पूरा करके वापस अयोध्या पहुँच जाएँगे और फिर सफल मनोरथ होकर विशाल नेत्रोंवाली अनेक सुंदर स्त्रियों के साथ विवाह करेंगे। परंतु मैं तो आप में ही अनुराग रखती हूँ, आपके प्रति मेरा यह प्रेम मुझे विनाश की ओर खींच ले गया है और इच्छित फल प्राप्त करने में निष्फल धर्म का आचरण करने से अब मुझे प्राण-त्याग करना पड़ रहा है। मेरे दुर्भाग्य को धिक्कार है।''

उस समय वामनरूपधारी हनुमान अशोक वाटिका में सीता से मिलते हैं तो हनुमान के मुख से रामकथा सुनने के बाद सीता के मन में आशंका प्रकट होती है। यहाँ भी हनुमान के पूछने पर जवाब में सीता अपने भूतकाल की सभी बातें हनुमान से कह देती हैं, किंतु तत्काल ही दंडकारण्य में तापस वेशधारी रावण से इसी प्रकार अपने द्वारा कही हुई बातों का उन्हें स्मरण होता है। दूध का जला जैसे छाछ भी फूँककर पीता है, उस तरह सीता तुरंत ही कह देती हैं —''जिस प्रकार यथार्थ रूप छोड़कर संन्यासी के रूप में तू दंडकारण्य में मेरे समक्ष आया था, उसी तरह इस समय भी मायावी रूप धारण कर आया हुआ तू रावण ही लगता है।'' हनुमान ने जब सीता को विश्वास दिलाया कि वह

रावण नहीं, बल्कि राम के सेवक हैं और सीता की खोज में ही यहाँ आए हैं, तब सीता ने उन्हें स्वीकार किया।

व्यथित सीता ने जब इतने लंबे अंतराल के बाद भी राम ने उन्हें मुक्त नहीं कराया, यह पीड़ा प्रकट कर रुदन किया तो हनुमान द्‌वारा रखा प्रस्ताव और सीता ने उसका जो उत्तर दिया, वह विचार करने लायक है। युद्‌ध का परिणाम हमेशा अनिश्चित होता है, इसलिए युद्‌ध के अंत में भी सीता की मुक्ति होगी ही, इसका विश्वास हनुमान सीता को नहीं दे सकते और ऐसा युद्‌ध कितना लंबा चलेगा, यह भी कोई कह नहीं सकता। हनुमान सीताजी से कहते हैं—''हे माता! आप मेरी पीठ पर बैठ जाएँ। मैं इसी समय आपको समुद्र लाँघकर राम के पास पहुँचा दूँगा। मेरे इस प्रयाण को आकाशमार्ग में कोई रोक नहीं सकेगा।'' हनुमान का यह वचन सुनकर सीता हर्षावेश में रोमांचित हो गईं।

सामान्य कथाकार हमें एक ही बात कहते हैं कि सीता ने हनुमान का उक्त प्रस्ताव अस्वीकार करते हुए कहा : ''राम के सिवाय दूसरे किसी पुरुष का स्पर्श स्वेच्छया मैं नहीं करना चाहती। रावण ने मेरा जो स्पर्श किया, वह तो मेरी लाचारी थी, पर तुम्हारी पीठ पर बैठने से जो स्पर्श होगा, वह मेरी जैसी सती नारी के लिए शोभास्पद नहीं।'' ये कथाकार सीता के सतीत्व को स्थूल स्पर्श के मुद्‌दे पर लक्ष्य केंद्रित करके अधिक उज्ज्वल करने का प्रस्ताव करते हैं।

सीता पूर्णत: सती थीं ही और उन्होंने हनुमान के स्पर्श को अस्वीकार किया था, यह बात भी सही है, पर हनुमान ने सीता को तत्क्षण राम के पास ले जाने की जो बात की, उससे सीता ऐसी रोमांचित हो गई हैं कि उन्होंने स्पर्श की यह बात एकदम अंत में कही है। सर्वप्रथम तो उन्होंने हनुमान का लघु रूप उन्हें कैसे उठा सकेगा, यह प्रश्न किया है। सीता के मन की यह आशंका दूर करने के लिए हनुमान ने अपने शरीर को विराट् बनाया तो प्रसन्न होकर सीता ने दूसरा कारण दिया है।

ऐसे विराट् देही हनुमान अब उन्हें उठा सकते हैं, इसकी प्रतीति होने के बाद उन्होंने कहा—''हे कपिश्रेष्ठ, आकाशमार्ग से तो तुम वायु की गति से उड्‌डयन करोगे और इस तीव्र गति के कारण या तो मैं मूर्च्छित हो जाऊँगी अथवा तुम्हारी पीठ पर से मैं नीचे गिर जाऊँगी और तब समुद्र के प्राणी मुझे अपना भक्ष्य बना लेंगे। इसके उपरांत यदि तुम मुझे हरकर ले जाओगे और कोई राक्षस यह देख लेगा तो रावण अपने सैन्य के साथ हमारा पीछा करेगा और उस परिस्थिति में बिना शस्त्र के तुम मेरा रक्षण कैसे करोगे? राक्षसों के साथ युद्‌ध के दौरान मैं तुम्हारी पीठ पर से नीचे गिर जाऊँगी और ऐसी स्थिति में नीचे से उठाकर रावण मेरा वध कर डाले, ऐसा भी संभव है। इतना ही नहीं, यदि तुम मुझे सुरक्षित पहुँचाने में सफल भी हो जाओगे तो इसका यश तो तुम्हें ही मिलेगा, श्रीराम को कोई यश नहीं मिलेगा।'' (राम और इक्ष्वाकु-वंश के सुयश की यह विभावना इस क्षण भी सीता ने जिस तीव्रता से प्रकट की है, उसका दूसरा छोर युद्‌धकांड में रावण-वध के बाद जोड़ा जा सकता है। राम के समक्ष उपस्थित हुई सीता को उस समय राम ने इस सुयश की ही याद दिलाई है। उन्होंने इक्ष्वाकु-वंश तथा अपनी वीरता दोनों पर लगा कलंक पराक्रम से दूर किया है और उसमें सीता का कोई स्थान नहीं। राम के इन शब्दों में महाकाल की कैसी विडंबना है! सीता को अशोक वाटिका में जो सुयश अभिप्रेत रहा होगा, उसका यह रूप अतिशय विरोधी लगता है।)

इस प्रकार, हनुमान के साथ नहीं जाने के लिए चार कारण आगे रखने के बाद अंत में सीता ने परपुरुष के स्पर्श का यह कारण भी रखा है। स्पर्श ही एकमात्र कारण नहीं था। वास्तव में स्पर्श का खयाल तो अंत में ही आया है। सीता के इस निर्णय के औचित्य के विषय में व्यावहारिक लेखा-जोखा करें तो प्रश्न तो उठ ही सकता है। युद्‌ध की अनिश्चितता, उसमें होनेवाला संभावित संहार आदि को ध्यान में रखते हुए यदि उद्‌दिष्ट परिणाम अन्य मार्ग से प्राप्त हो सकता हो तो उसका स्वीकार अधर्म कैसे हो सकता है, ऐसा प्रश्न किसी के भी मन में उठ सकता है! 'धर्म'

शब्द रामायण या महाभारत में अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग पात्रों ने अलग-अलग अर्थों में प्रयुक्त किया है। (इसमें अपवाद एकमात्र कृष्ण हैं, जो धर्म शब्द को उसके शाश्वत रूप में प्रकट करते हैं) याद रहे, बाली-वध के समय राम ने 'मृगया राजपुत्रों का धर्म है' ऐसा कहकर बाली-वध को यथार्थ ठहराने की कोशिश की है, तो अशोक वाटिका में सीता के साथ संवाद करते समय रावण ने भी ऐसा ही कहा है कि परस्त्री का हरण करना अथवा बलात्कार करना तो राक्षसों का धर्म ही रहा है :

स्वधर्मो रक्षसां भीरू सर्वदैव न संशयः।
गमनं व परस्त्रीणां हरणं सम्प्रमथ्यवा॥

(सुंदरकांड-२०/५)

इस प्रकार, कोई भी धर्म संपूर्णतः वास्तववादी ही रहा है। धर्म की और सुयश की आग्रही सीता से जब अशोक वाटिका में हनुमान द्वारा किए विध्वंस के विषय में राक्षसियाँ पूछताछ करती हैं तो वे हनुमान को पहचानती ही नहीं और हनुमान ने उनके साथ कोई बातचीत भी नहीं की, जिसे शब्दार्थ में असत्य कहा जाए, किंतु लक्ष्यार्थ में उचित कहा जाए—ऐसा व्यावहारिक सत्य सीता ने कहा है। सत्य को शब्दशः भंग करके यदि ऐसा व्यवहार सीता ने स्वीकारा तो फिर सुयश या स्पर्श का शब्दशः अर्थ निकालने के बदले हनुमान का प्रस्ताव स्वीकार कर लेने में व्यावहारिक औचित्य नहीं था, ऐसा कैसे कहा जा सकता है?

मात्र सीता के जीवन की ही नहीं, किसी भी स्त्री के जीवन की कही जा सके, ऐसी भी नहीं, बल्कि समग्र मानवजाति की कही जा सके, ऐसी करुणतम स्थिति महाकवि ने सीता के पात्र द्वारा दो बार हमारे समक्ष साकार की है। युद्ध के अंत में सीता पति के दर्शन करने के लिए लालायित होती हैं तो राम ने ऐसी आज्ञा दी है कि सीता स्नानादि से निवृत्त होकर तथा पूर्णतः सुशोभित अवस्था में ही राम के समक्ष उपस्थित हों। पति की यह इच्छा सीता ने किसी प्रतिवाद के बिना स्वीकारी है। आरंभ में 'स्नान आदि बाद में करूँगी और पति का दर्शन पहले करूँगी', ऐसा उतावलापन सीता ने प्रकट किया है।

सीता का यह आचरण किसी भी मनुष्य के लिए सहज है, परंतु विभीषण ने उन्हें राम की आज्ञा सुनाई, इसलिए सीता ने अत्यंत सहजता के साथ उसे स्वीकार भी कर लिया। पति की आज्ञानुसार बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण तथा शृंगार धारण कर सीता जब राम के समक्ष उपस्थित हुईं तो राम ने उनके चरित्र पर जो शंका की, उसके बारे में हम पहले ही बता चुके हैं। राम सीता को मात्र अस्वीकार ही नहीं करते हैं, बल्कि उनकी क्रूर कही जा सके—ऐसी अवहेलना राक्षसों, वानरों तथा अन्य सभी की उपस्थिति में करते हैं।

ऐसी स्थिति में सीता के लिए मृत्यु ही एकमात्र विकल्प रह जाता है। अंततः राम ने सीता का त्याग किया। इतना ही नहीं, विभीषण, सुग्रीव या अन्य किसी के भी साथ जाने का, निर्दय कहा जा सके, ऐसा सुझाव भी दिया है। अशोक वाटिका में तो सीता के समक्ष एक आशा भी थी। राम उन्हें मुक्त कराएँगे और इस मुक्ति के बाद सुख का सूर्य उदय होगा, ऐसी रम्य कल्पना भी थी। राम ने जब अस्वीकार किया, उस समय सीता के लिए अग्नि-प्रवेश के सिवाय दूसरा कोई विकल्प था ही नहीं। सीता ने इसी विकल्प को चुना और अशोक वाटिका में दी हुई यह अग्नि-परीक्षा मानो अधूरी हो, इस तरह स्थूल रूप में नए सिरे से अग्नि-परीक्षा दी। इस अग्नि-परीक्षा के समय सीता ने अपने समग्र जीवन का सारा सत्य दाँव पर लगा दिया है।

सीता ने अग्नि के समक्ष खड़ी होकर जो कहा है, उसे पढ़ते समय किसी विद्वान् को, महाभारत में कृष्ण ने उत्तरा के गर्भ को जीवंत करने के लिए अपने जीवन का सत्त्व जिस प्रकार दाँव पर लगा दिया था, वह याद आ जाए, ऐसा संभव है।

उत्तरा के गर्भ को सजीव करने के लिए वह महाकाल से याचना नहीं, बल्कि चुनौती दे रहे हों, इस प्रकार कृष्ण कहते हैं—''हे महाकाल! जीवन में यदि मैंने झूठ न बोला हो, मैंने कभी अधर्माचरण न किया हो, युद्ध में कभी पीठ न दिखाई हो, (और महाभारत की किसी-किसी आवृत्ति के अनुसार 'मैंने यदि सदैव ब्रह्मचर्य का पालन किया हो') तो उत्तरा का यह गर्भ जीवित हो जाए!''

यहाँ कोई याचना, विनती या प्रार्थना नहीं है। यहाँ तो अधिकार के तौर पर पूरी कीमत चुकाकर मिलती इच्छित वस्तु की बात हुई है। इसी प्रकार सीता ने भी अग्नि-प्रवेश के समय किसी याचक की भाँति प्रार्थना नहीं की। कृष्ण की तरह ही अपने जीवन का समग्र सत्त्व चुकाकर उस मूल्य के बदले में रक्षण माँगा है—''यदि मेरा चरित्र पूर्ण रूप से निष्कलंक हो; मन, वचन और कर्म से कभी राम का अतिक्रमण न किया हो; सूर्य, चंद्र, वायु, पृथ्वी, दिन और रात और दसों दिशाएँ यदि मेरे चरित्र को जानती हों तो हे अग्निदेव! मेरी रक्षा करें!''

सीता की इस चुनौती के समक्ष मानो अग्निदेव भी विनीत हो गए और सीता उस अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण हुईं। स्वयं अग्नि ने प्रकट होकर सीता की विशुद्धि का प्रभावचन दिया, तभी राम ने सीता को स्वीकार किया। यहाँ भी राम ने सीता को स्वीकार करते हुए यही कहा है कि यदि मैंने सीता की ऐसी परीक्षा न की होती तो लोग मेरे इक्ष्वाकु-वंश को और मुझे दोष ही देते।

अयोध्या वापस आने के बाद भी सीता के दुर्भाग्य का अंत नहीं होता। हजारों लोगों की साक्षी में और स्वयं अग्निदेव के प्रमाण के बाद भी सीता की पवित्रता उनके दुर्भाग्य को दूर नहीं कर सकी। अयोध्या लौटने के कितने समय बाद यह घटना हुई होगी, इसकी स्पष्टता तो प्राप्त नहीं की जा सकती, पर अयोध्या में सीता के सुख के दिन बहुत लंबे नहीं रहे होंगे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

राज्यारोहण के बाद अयोध्या के आतिथ्य का सुख भोगते राक्षसों और वानरों के विदा होने के बाद राम और सीता उपवन में विहार करते हैं, ऐसी बात कही गई है। इस विहार के दौरान सीता अपने गर्भवती होने की बात बताती हैं और तपोवन में फिर एक बार ऋषियों के समीप एक रात निवास करने की इच्छा प्रकट करती हैं। इसके बाद तुरंत ही राम और उनके मित्रों के बीच का संवाद आलेखित किया गया है। मित्रों ने राम के पूछने पर अयोध्या के नगरवासियों के बीच सीता के चरित्र के विषय में जो बातें होती थीं, वे बताईं। अयोध्यावासी रामराज्य में हर तरह से प्रसन्न थे, पर रावण के अंत:पुर से रहकर आई स्त्री के साथ राम किस प्रकार सुख प्राप्त कर सकते होंगे, ऐसा अपवाद सर्वत्र व्याप्त था। इतना ही नहीं, राम स्वयं ऐसी स्त्री को स्वीकार करें तो फिर नगरवासियों की बात ही क्या, ऐसी आलोचना भी होती थी। (याद रहे कि यहाँ धोबी की कोई बात नहीं। सामान्य नगर-चर्चा की ही बात है।)

स्वयं अग्निदेव ने प्रतीति दी थी और राम विश्वासपूर्वक सीता की पवित्रता को स्वीकार करते थे। फिर भी लोकापवाद को ध्यान में रखकर उन्होंने तत्काल सीता के त्याग का निर्णय लिया। राम के इस निर्णय का बचाव करना, राम के परम भक्तों के लिए भी, इतने वर्षों बाद भी, अत्यंत कठिन रहा है।

लोक-निंदा की यह बात जानने के बाद राम ने अपने भाइयों के समक्ष सीता-त्याग का अपना निर्णय व्यक्त किया है। भाइयों के साथ उन्होंने चर्चा नहीं की। उनका इस विषय में क्या अभिप्राय है, यह भी नहीं पूछा। इतना ही नहीं, सीता-त्याग का अपना निर्णय प्रकट करके तुरंत ही कहा है कि जो कोई मेरे इस निर्णय के विरुद्ध कुछ कहेगा, वह सदैव के लिए मेरा अहितकारी है, ऐसा मैं मानूँगा।

इस प्रकार लक्ष्मण सहित सभी को अनुत्तर करने के बाद राम ने सीता को चुपचाप वन में छोड़ आने का आदेश लक्ष्मण को दिया है। थोड़े समय पहले सीता ने स्वयं गंगातट पर निवास करते ऋषियों के आश्रम में जाकर दर्शन करने की इच्छा प्रकट की थी, उसे स्मरण कर राम लक्ष्मण को इसके बहाने सीता को गंगातट पर छोड़ आने के

लिए कहते हैं।

लक्ष्मण गंगातट पर सीता को ले गए। सीता को इस तरह ले जाने के लिए लक्ष्मण ने जिस प्रकार उद्यत किया है, वे शब्द भी देखने लायक हैं। लक्ष्मण ने कहा है, ''हे देवी, आपने मुनियों के आश्रम में दर्शनार्थ जाने की इच्छा महाराज के समक्ष व्यक्त की थी और अब महाराज ने आपकी यह इच्छा पूरी करने के लिए मुझे आज्ञा दी है।''

राम-प्रेरित लक्ष्मण के इस असत्यवादन के इस षड्यंत्र से किसी भी सहृदय पाठक को आघात लगे बिना नहीं रहेगा। पति ने मेरी इच्छा पूरी की है, इस हर्षावेश में लक्ष्मण के साथ रथारूढ़ हुई सीता को सत्य का पता तभी चला, जब गंगातट पर सीता को उतारने के बाद अचानक लक्ष्मण सुबक-सुबककर रोने लगे। सीता से भी बढ़कर यह पल लक्ष्मण के लिए दुसह्य था। राम ने तो लोक-निंदा से बचने के लिए सीता का त्याग किया था, पर राम का यह कदम सीता के गले उतरवाने का अत्यंत कठिन काम लक्ष्मण को करना था।

लक्ष्मण को रोते देख निष्पाप सीता कहती हैं—''भाई, हम कहाँ यहाँ हमेशा के लिए रहने आए हैं? यहाँ तो दो दिन ही रहना है। यह दो दिन का राम का वियोग भी आप सहन न कर सकें और रुदन करें, इसे क्या कहा जाएगा? देखिए न, राम तो मुझे भी प्रिय हैं, पर मैं तुम्हारी तरह कोई रो नहीं रही हूँ!''

अब लक्ष्मण के लिए सत्य कहना अनिर्वाय हो गया था और सीता के समक्ष रोते-रोते भूमि पर साष्टांग नमन कर उन्होंने कहा (संभवत: भूमि पर साष्टांग नमन करके लक्ष्मण असत्य वचन बोलते समय अपना भाव छुपाना चाह रहे हों या फिर सीता के चेहरे पर जो पीड़ा दिखाई दे, उससे बचना चाह रहे हों)—''हे माता! आप मेरी और राम की दृष्टि में निष्पाप सिद्ध हो चुकी हैं, परंतु लोक-निंदा से डरकर महाराज ने आपका त्याग किया है। अब आप गंगातट पर ऋषियों के आश्रम में निवास करें।''

इन शब्दों को सुनकर सीता की क्या दशा हुई होगी, इसकी कल्पना करना किसी के वश में नहीं। सीता विलाप तो करती हैं, उन्हें अपार आघात भी लगता है, परंतु इस करुण आक्रंदन के बीच उन्होंने जो एक प्रश्न पूछा है, वह सीता की महत्ता को और भी महान् बना देता है। उनकी ऊँचाई को आकाश के पार पहुँचा देता है। उनका यह प्रश्न संसार की समस्त स्त्रियों के कारुण्य को भी प्रकट करता है :

किं नु वक्ष्यामि मुनिषु कर्म चासत्कृतं प्रभो।
कस्मिन् वा कारणे त्यक्ता राघवेण महात्मना॥

(उत्तरकांड-४८/७)

चरित्र या पावित्र्य पर आशंका किसी भी स्त्री के लिए सबसे अधिक आघातजनक परिस्थिति है। तिस पर विवाहित स्त्री के लिए तो ऐसी आशंका उसके जीवन को मृतप्राय: कर देती है। खासतौर से यदि वह स्त्री निर्दोष हो और उसकी निर्दोषिता कालांतर में सिद्ध हो चुकी हो, इसके बावजूद निकट के आप्तजन ही ऐसी आशंका करें तब तो किसी भी स्त्री का जीवन असह्य हो जाता है। सीता उस समय लक्ष्मण से पूछती है : ''जिन ऋषियों के आश्रम में मैं वास करूँगी, वे ऋषि राम द्वारा किए गए मेरे त्याग का कारण पूछेंगे तो मैं उनसे क्या कहूँ, यह तो बताइए!''

अग्नि-परीक्षा देकर वे (सीता) राम, लक्ष्मण के अतिरिक्त हनुमान, विभीषण, सुग्रीव—इन सबकी साक्षी में निष्पाप सिद्ध हुई हैं। इसके बाद भी पति ने मात्र लोकनिंदा से बचने के लिए और मात्र अपनी कीर्ति अक्षुण्ण रखने के लिए पत्नी का त्याग किया है। यह शत-प्रतिशत खरे सोने जैसा सत्य सीता बिना संकोच के कह सकती थीं। इसमें कुछ भी असत्यवादन नहीं था। परंतु ऐसा कहने से राम की प्रतिमा अवश्य मलिन होगी, यह विचार सीता के मन में न हो, ऐसा तो हो ही नहीं सकता। उपरोक्त श्लोक सीता की इस 'न कही जाए, न सही जाए' जैसी वेदना को व्यक्त करता है।

सीता इस परिस्थिति में आत्महत्या करने के लिए भी तत्पर हुई हैं, परंतु उनके उदर में राम का अंश स्पंदित हो रहा था और सीता राम के इस अंग को कैसे नष्ट कर सकती थीं? विदा ले रहे लक्ष्मण से सीता एक ऐसी बात भी कहती हैं, जो लक्ष्मण तो क्या, गंगातट की प्रकृति के लिए भी असह्य बन गई होगी। सीता ने कहा : ''लक्ष्मण, जाते-जाते मेरी ओर एक दृष्टि डाल लो! मैं इक्ष्वाकु-कुल के वंशज को धारण कर रही हूँ!''

सीता-त्याग के बाद राम ने अश्वमेध यज्ञ किया था, परंतु इस यज्ञ में सपत्नीक पूजन करने के उद्‌देश्य से सीता की स्वर्ण-प्रतिमा स्थापित किए जाने की जो घटना कथाकार हमें बताते हैं, उसके विषय में वाल्मीकि पूरी तरह मौन हैं। वाल्मीकि रामायण में अश्वमेध-यज्ञ का उल्लेख हुआ है और यह यज्ञ पूरे एक वर्ष तक चला है; परंतु राम ने सीता की कोई सुवर्ण प्रतिमा बनाई हो, ऐसी बात वाल्मीकि रामायण में कहीं नहीं है।

वाल्मीकि आश्रम में पति द्‌वारा त्यागी हुई सीता ने लव और कुश—दो जुड़वाँ पुत्रों को जन्म दिया है। यहाँ रामायण में वाल्मीकि के स्थान के विषय में भी ध्यान देना चाहिए। तमसा-तट पर क्रौंच-युगल का रसभंग देखकर कवि व्यथित हुए और इस व्यथा में से रामायण महाकाव्य की रचना हुई। इस महाकाव्य का सर्वप्रथम गान, जो पुरुषोत्तम राम को केंद्र में रखकर आलेखित हुआ था, उनके ही पुत्रों द्‌वारा, उनके ही समक्ष एक नितांत अनजानी कथा के रूप में हो, यह घटनाक्रम अतिशय रोचक है। गायक पुत्र पिता या पिता के इस जीवनक्रम के विषय में अनजान है, परंतु जो इस गान का श्रवण कर रहे हैं, उनके लिए उनके जीवन का एक सबसे कोमल क्षण उपस्थित हुआ होगा।

महर्षि वाल्मीकि की आज्ञा से ही रामायण का यह गान अयोध्या के राजपरिवार के समक्ष हुआ। इस गान के अंत में अज्ञात संबंध प्रकट हुए और महर्षि वाल्मीकि ने अपने शिष्यों का परिचय देकर, सीता उनके आश्रम में कुशल-क्षेम से हैं, यह सत्य प्रकट किया। सीता को पुन: अयोध्या में स्वीकार करने के लिए वाल्मीकि के समक्ष भी राम ने वही पुराना तर्क प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा कि यदि सीता का चरित्र शुद्‌ध हो और कोई पाप उन्होंने नहीं किया हो तो महर्षि की सम्मति से सीता भले अयोध्या आएँ, परंतु यहाँ आकर लोगों के सामने उन्हें अपनी पवित्रता सिद्‌ध करनी पड़ेगी।

राम की इस अनुज्ञानुसार सीता अयोध्या आईं और जनसमूह की उपस्थिति में राम के समक्ष स्वयं वाल्मीकि ने सीता की पवित्रता के विषय में प्रमाण-पत्र दिया। वाल्मीकि ने कहा है कि ''हे राम, यदि सीता में एक अंश भी दोष हो तो मेरा हजारों वर्ष का तप भस्म हो जाए! मैंने इससे पूर्व मन-वचन-कर्म से जो भी पुण्यकर्म संपादित किए हैं, उनका फल मुझे तभी प्राप्त हो, जब सीता निष्पाप हों!''

वाल्मीकि का यह प्रमाण-पत्र प्राप्त करने के बाद भी राम ने सीता की शुद्‌धि के लिए आग्रह रखा है। राम ने कहा, ''सीता की पवित्रता के विषय में मेरे मन में कोई शंका नहीं। पूर्व में अग्नि-परीक्षा द्‌वारा सीता ने अपनी पवित्रता सिद्‌ध कर दी है। उनकी पवित्रता जानने के बाद ही मैंने अपने जीवन में उन्हें पुन: प्रवेश दिया था। फिर भी इस समय जो लोक-निंदा व्यापक बन गई है, उसे लक्ष्य में लेते हुए इस पूरे जनसमूह के समक्ष भी सीता अपनी पवित्रता सिद्‌ध करेंगी तो मुझे प्रसन्नता होगी।''

राम के ये वचन सुनने के बाद सीता ने अपनी पवित्रता के लिए धरती माता से प्रार्थना की है। धरती-पुत्री सीता अब अपनी इस जनेता की गोद के अलावा अन्यत्र आश्रय भी कहाँ पा सकती थी? अग्नि-परीक्षा, महर्षि वाल्मीकि की हजारों वर्ष की तपस्या द्‌वारा अंकस्थ हुई शुद्‌धि तथा स्वयं राम द्‌वारा पत्नी के निष्पाप होने की बात स्वीकार किए जाने के बाद भी यदि मात्र मुट्‌ठी भर लोगों की निरर्थक टीका राम जैसे पुरुषोत्तम को पत्नी को स्वीकार करने से रोकती हो तो सीता के लिए अब अन्य कौन सा स्थान हो सकता है? एक तरह से देखें तो सीता का यह भूमि-

प्रवेश आज हजारों वर्ष बाद भी ससुराल व मायके में कहीं भी आश्रय न पा सकनेवाली किसी असहाय परित्यक्ता द्वारा की गई आत्महत्या जैसा ही लगता है।

सीता ने पृथ्वीमाता का वंदन करके कहा, ''हे माँ, यदि मैंने मन से भी कभी राम के सिवाय किसी दूसरे पुरुष का चिंतन नहीं किया हो तो मुझे तुम अपनी गोद में स्थान देना!'' मात्र तीन ही श्लोक के इस आर्त्तनाद में सीता के समग्र जीवन की व्यथा मानो समा जाती है :

यथाइहं राघवादन्यं मनसाऽपि न चिंतये।
तथा मे माघवी देवी विवरं दातुमर्हति॥ ४॥
मनसा कर्मणा वाचा यथा राम समर्चये।
तथा मे माघवी देवी विवरं दातुमर्हति॥ ५॥
यथैतत् सत्यमुक्तं मे वे रामात् परं न च।
तथा मे माघवी देवी विवरं दातुमर्हति॥ ६॥

(उत्तरकांड-९७/१४-१५-१६)

सीता का यह आक्रंद उनकी जन्मदात्री भूमि सहन नहीं कर पाती है और सीता को अपने अंक में समा लेती हैं। इस प्रकार सीता भूमि में प्रवेश कर गईं।

सीता के इस भूमि-प्रवेश को लेकर कोई अतिबौद्धिक तार्किक प्रश्न भी कर सकता है। पृथ्वी इस प्रकार किसी के सत्य-असत्य की परख करने के लिए साक्षी बने, यह तर्कसंगत भले न लगे, किंतु सीता के जन्म को यदि हम प्रमाणभूत मानें तो उनके इस विलय को भी उतना ही प्रमाणभूत मानना चाहिए। इसका एक प्रतीक के रूप में मूल्यांकन करें तो भी जन्मदात्री माता के सिवाय ऐसी दुर्भागी स्त्री दूसरे किसकी गोद में आश्रय पा सकती है?

सीता भूमि-पुत्री थीं और भूमि, जो अपार बोझ अपनी क्षमता के विषय में कोई भी प्रश्न किए बिना सह लेती है, उसी प्रकार इस भूमि-पुत्री ने भी अपनी जनेता का आजीवन अनुसरण किया है। कवि भवभूति ने अपने कालजयी नाटक 'उत्तररामचरितम्' में सीता के इस भूमि-प्रवेश के समय सीता के होंठ पर जो श्लोक रखा है, वह भले ही मूल कथानक में न हो, परंतु वह सीता के संपूर्ण व्यक्तित्व के निचोड़ जैसा है। भूमि में धीरे-धीरे अदृश्य हो रही सीता दोनों हाथ जोड़कर, मस्तक नवाकर कह रही हैं : ''त्वमेव भर्ता न च विप्रयोग:—हे राम! जीवन में चाहे जो कुछ हुआ हो, आपके पास से मैं चाहे जो भी पाई होऊँ—न्याय, अन्याय—उसका लेखा-जोखा मुझे नहीं करना है, मैं तो परमात्मा से इतनी ही प्रार्थना करती हूँ कि जनम-जनम आपको ही मैं पति रूप में पाऊँ! किंतु जैसा इस जन्म में हुआ, ऐसा वियोग बार-बार न हो।''

सीता की इस आकाश को छूती अभीप्सा को एक ओर भवभूति ने वाचा दी है तो दूसरे छोर पर इस पात्र-वंदना के आरंभ में ही जिस गीत का हमने स्मरण किया था, वह गीत—''सीताजी नी तोले तमे ना आवो राम, तमे सीताजी नी तोले न आवो'' (अर्थात् सीताजी के समकक्ष आप नहीं आ सकते हैं राम) अपने अंतस को आप्लावित कर देता है।

❑

—१५—
राम

भारतीय संस्कृति के हजारों वर्ष के इतिहास में अरबों लोग यहाँ पैदा हुए हैं और महाकाल के गर्त में विलीन हुए हैं। इस विलीनीकरण के बाद भी राम और कृष्ण—ये दो नाम रहे हैं, जिन्हें अभी आज भी हम परमात्मास्वरूप और अमर मानते हैं। यहाँ आज भी ऐसे असंख्य लोग हैं, जिनके लिए 'राम' शब्द का रटन मात्र ही उन्हें जीवन जीने का नया बल देता है, प्रेरणा और श्रद्धा देता है। इसके साथ ही यही शब्द, अंतिम श्वास तक उच्चारने मात्र से जीवन ही ठीक, परलोक भी परम धन्य हो जाए—ऐसी असीम श्रद्धा के साथ मान्यता बहुत ही व्यापक स्तर पर यहाँ है।

लगभग सवा सौ वर्ष पहले पोरबंदर जैसे छोटे से गाँव में मोहन नाम के अँधेरे से डरते एक बालक को रंभा नाम की एक दाई ने रामनाम का मंत्र दिया था। इस मंत्रोच्चार से मोहन अँधेरे से तो निर्भय हुआ ही, निर्भीकता का यह पाठ उसने ऐसा आत्मसात् भी कर लिया कि जीवन की आठ दशकों की यात्रा में मात्र रामनाम के मंत्रोच्चारण से तमाम भय वह जीत गया। इस प्रकार निर्भय होकर मोहन देश के लिए 'राष्ट्रपिता' और विश्व के लिए 'विरल विभूति' भी बना। जीवन के अप्रत्याशित अंत के समय भी उसने 'रामनाम' का शब्दोच्चार किया था।

यह तो एक विरल व्यक्ति की बात हुई, पर दूसरे करोड़ों लोग ऐसे हैं, जो उठते-बैठते, सोते-खाते, घूमते-फिरते, जीवन की तमाम प्रवृत्तियों में इस शब्दमात्र से बल प्राप्त करते हैं। इस देश की लगभग ७५ प्रतिशत ग्रामीण आबादी के लिए परस्पर का अभिवादन करने के लिए, स्वागत ही नहीं, अलविदा कहने के लिए भी 'राम-राम' शब्द श्वासोश्वास जैसा ही सहज बन गया है। इस प्रकार राम सिर्फ रामायण का एक पात्र न रहकर करोड़ों वर्षों से करोड़ों व्यक्तियों के लिए एक जीवन-शैली अथवा जीवन का अंश बन गए हैं। ऐसे एक पात्र न रहकर परम का अंश बन गए व्यक्ति के विषय में बात करना सामान्य लेखक के लिए कठिन प्रक्रिया है। भले ही भक्तों, कथाकारों या विद्वानों ने राम के विषय में बात करने में हमेशा दो आत्यंतिक छोरों से बात की है।

राम के विषय में बात करना सविशेष दुष्कर इसलिए है कि राम को हमने मनुष्य नहीं, वरन् भगवान् के रूप में स्थापित कर दिया है। हम जानते हैं कि भगवान् सदैव अजनमे और अमर ही होते हैं। राम कौशल्या की कोख में पूरे नौ महीने की गर्भावस्था के बाद जनमे थे और सरयू के जल में उन्होंने आत्म-विलोपन किया था। 'परमात्मा कभी जनम लेता नहीं, इसलिए उसका विलय भी नहीं होता।' एक तरह से देखें तो परमात्मा हम सभी में अधिक या कम अंश में रहता ही है। हमारे बीच रहता कोई विरल व्यक्तित्व परमात्मा के अंश को विशेष प्राप्त कर सकता है और इस तरह जो इस अंश से दूर रहे हैं, उनके लिए ऐसा विरल व्यक्तित्व परम अथवा परमात्मा बन जाता है। राम के अतिरिक्त हम न जाने कितने पात्रों को आज तक परमात्मा मान चुके हैं। स्वयं राम ने रामायण में आत्म-परिचय देते हुए देवों और ब्रह्मा से कहा है :

आत्मानं मानुष मन्ये रामं दशरथात्मजम्।
सोऽहं यश्व यताश्राह भगवांस्तद ब्रवीतु मे॥

(उत्तरकांड-११७/११)

—अर्थात् हे देवगण! मैं तो दशरथ राजा का पुत्र राम ही हूँ और इस तरह से एक मनुष्यमात्र ही हूँ। अब आप ही मुझे बताएँ कि मैं कौन हूँ और कहाँ से आया हूँ?

इस तरह राम स्वयं को एक मनुष्य ही मानते हैं और मनुष्य के रूप में ही यदि हम राम के दर्शन करें तो उसमें से एक महान् मनुष्य का दर्शन हमें हो सकता है। मनुष्य के विषय में बात करना सरल इसलिए है कि मनुष्य कभी

सर्वगुण-संपन्न नहीं होता। एक बार हम जिसे भगवान् मान लेते हैं, उसके विषय में हम कुछ भी अन्यथा सोच नहीं सकते। व्यक्ति की विचारशक्ति का अंत भगवत्ता के पास आता है। विचार-शक्ति का जहाँ अंत आता है, वहाँ से भगवान् का परम प्रदेश आरंभ होता है। विचारशक्ति चाहे जितनी प्रचंड हो, फिर भी उसकी मर्यादा है और एक बार इस मर्यादा का स्वीकार होने के बाद ही भगवत्ता का दर्शन होता है। राम ने अपनी भगवत्ता कहीं भी प्रकट नहीं की।

कृष्ण ने जन्म के साथ ही, वे मनुष्य नहीं बल्कि परम तत्त्व हैं, यह स्पष्ट कर दिया था। माता-पिता को उन्होंने पूर्ण परमात्मा के रूप में दर्शन दिए थे, ऐसी कथा भागवत में है। इसके बाद महाभारत के युद्ध से पूर्व विष्टि के समय हस्तिनापुर के सभाखंड में उन्होंने अपना विराट् रूप प्रकट किया था। इसके बाद कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन के समक्ष अपने विश्वरूप-दर्शन का साक्षात्कार कराया था। युद्ध के अंत में द्वारका जाते समय मार्ग में उत्तंक ऋषि को भी उन्होंने अपने विश्वरूप का दर्शन कराया था (हालाँकि कृष्ण ने भी अनेक बार 'वे मनुष्यत्व की मर्यादा में ही कार्य कर सकते हैं' ऐसा कहा है।)

राम ने स्वयं में देवत्व होने का दावा कभी नहीं किया, उलटे एक सामान्य व्यक्ति की भाँति श्रेय और प्रेय के बीच संघर्ष किया है। आपत्ति के समय कभी-कभी विह्वल होकर रुदन भी किया है। कभी माता-पिता, भाई या पत्नी, इन सबके लिए आकाश छू ले—ऐसा प्रेम और त्याग दिखाया है तो कभी अगम्य लगे—ऐसा व्यवहार भी उनके साथ किया है। यह सब हम तभी देख और समझ सकते हैं कि जब हम राम को भगवान् के रूप में नहीं, बल्कि एक मनुष्य के रूप में, दशरथ और कौशल्या के पुत्र के रूप में, अयोध्या के राजकुमार के रूप में, भरत और लक्ष्मण के भाई के रूप में, सीता के पति के रूप में, सुग्रीव या विभीषण के मित्र के रूप में, हनुमान के स्वामी के रूप में और रावण के शत्रु के रूप में—इस प्रकार विविध मानवीय रूप में उनका दर्शन कर सकें। भगवान् की पूर्णता के साथ नहीं, बल्कि मनुष्य जीवन की अपूर्णता के साथ यदि हम राम का दर्शन करें तो उसमें से जो राम प्रकट होते हैं, उनकी हमारे लिए अधिक हृदयंगम व वंदनीय बनने की संभावना है।

रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि स्वयं रामनाम के रटन मात्र से डाकू-लुटेरे से वाल्मीकि बने थे, ऐसी उपकथा (क्षेपक) अन्यत्र मिलती है। महर्षि वाल्मीकि के इक्ष्वाकु-वंशी दशरथ और राम के समकालीन होने की स्पष्टता रामायण के आरंभ में ही हमें मिलती है। इस तरह रामकथा का आलेखन राम के ही समकालीन वाल्मीकि ने किया है। रसप्रद बात तो यह है कि रामकथा का जो संक्षिप्त सार नारद ने वाल्मीकि को दिया है, उसमें श्लोक ७ से ८९ तक वर्तमान की बात है। इस ८९वें श्लोक में राम लंका-विजय के बाद अयोध्या वापस आए और राज्य प्राप्त किया, ऐसा उल्लेख है। उसके बाद के १० श्लोक राम के भविष्य के विषय में हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि रामकथा का जब आलेखन हुआ, उस समय महर्षि वाल्मीकि ने मात्र राम के अयोध्या में पुनरागमन तक ही कथा आलेखित की हो, फिर उत्तरकांड लिखा गया हो। वाल्मीकि ने नारद से पूछा है कि वर्तमान युग में गुणवान्, धैर्यवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, सत्यवक्ता, दृढ़प्रतिज्ञ, सदाचारी, प्राणिमात्र का हितसाधक, विद्वान्, प्रियदर्शन, जितेंद्रिय, कांतिमान और जिससे देव भी डरें—ऐसा निर्भीक पुरुष कौन है? इसके जवाब में नारद ने वाल्मीकि को राम का परिचय दिया है। इसका अर्थ यह हुआ कि तत्कालीन युग में राम ऐसे सभी गुण रखनेवाले परम पुरुष थे।

ऐसे परम पुरुष के व्यक्तित्व का जब हम दर्शन करते हैं तो सहज ही अपनी अपेक्षा को हम एक निश्चित दिशा में जाने-अनजाने मोड़ लेते हैं। वाल्मीकि रामायण में से राम का जो सर्वांगीण दर्शन हमें उपलब्ध होता है, उसमें नारद द्वारा वाल्मीकि के समक्ष वर्णित लक्षणों के साथ ही अनेक अगम्य दर्शन भी हमें होते हैं। महान् व्यक्तियों में हमेशा कोई-न-कोई असाधारण तत्त्व रहता ही है। सामान्य ऊँचाई के व्यक्तियों के लिए ऐसे लोकोत्तर पुरुष के तमाम व्यवहारों को अपने व्यवहारों से ही तुलना करके मूल्यांकन करने का मापदंड सरल होता है। राम और कृष्ण जैसे

महापुरुषों से लेकर अभी कल तक जो हमारी नजर के सामने थे, ऐसे गांधीजी के जीवन तक तमाम लोकोत्तर पुरुषों में प्राय: विरोध या विसंवाद रहे ही हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रत्येक विरोधी व्यवहारवाला व्यक्ति महान् बन जाता है। ऐसे निष्कर्ष पर आना तो भोलापन ही कहा जाएगा। इसके बावजूद व्यक्तियों के प्रत्येक व्यवहार मात्र को अपने ही मापदंड से मापना और ऐसा माप करने के बाद उन्हें पास या फेल कर देने से हम शायद अपने आप पर ही अन्याय कर बैठेंगे, यह भय रहता है। यहाँ इतनी स्पष्टता कर लें कि जहाँ हमें अपने मापदंड से अनुचित या अयोग्य लगे, उसे वैसा न कहना; इतना ही नहीं, उससे आँखें फेर लेना या महर्षि वाल्मीकि को भी जो अभिप्रेत न हो—ऐसे विधेयक या संशोधन करना, इसे तो किसी भी तरह उचित नहीं ठहराया जा सकता।

राम का जन्म रावण के नाश जैसे निश्चित हेतु के लिए हुआ था और इसके लिए देवों द्वारा रची गई भूमिका तथा भगवान् विष्णु ने स्वयं मनुष्य रूप में जन्म लेकर देवों के कार्य सिद्ध करने का आश्वासन दिया था, ऐसी कथा बालकांड में है। राजा दशरथ द्वारा किए गए पुत्रेष्टि-यज्ञ में से प्रकट हुए यज्ञ-पुरुष ने विष्णु के अंश जैसा यह प्रसाद खीर के रूप में दिया। यह प्रसाद राजा ने अपनी तीनों रानियों को कम-अधिक अंश में दिया है। फलस्वरूप जो चार पुत्र जनमे, वे चारों एक तरह से देखें तो विष्णु के ही अंग कहे जाएँगे। अंतर मात्र इस अंश की अधिक-कम मात्रा का ही कहा जाएगा। ज्येष्ठ रानी होने के कारण कौशल्या को यज्ञ-पुरुष के इस प्रसाद का आधा अंश प्राप्त हुआ था और फलस्वरूप जो पुत्र जनमा, उसमें पूर्ण परमात्मा नहीं, बल्कि अर्ध-परमात्मा का वास था—ऐसा कहना चाहिए। इस तरह राम भगवत्ता का संस्पर्श पाए थे, पर स्वयं पूर्ण भगवान् नहीं थे। यह बात यदि हम स्वीकार कर लें तो राम के पात्र को समझना अधिक सरल हो जाएगा।

माता कौशल्या के गर्भाधान और यज्ञ की रक्षा के लिए विश्वामित्र द्वारा राम की माँग, इन दोनों घटनाओं के बीच लगभग १८ से २० वर्ष का अंतराल हो, ऐसा बौद्धिक ढंग से माना जा सकता है। यह अंतराल अर्थात् राम का जन्म, उनका बाल्यकाल, किशोरावस्था एवं प्राथमिक शिक्षा का अंतराल कहा जा सकता है। इतने लंबे घटनाचक्र को महर्षि वाल्मीकि ने मात्र ३० श्लोकों की मर्यादा में समेट दिया है। बालकांड के सर्ग १८ के आठवें और नौवें श्लोक में राम का जन्म हुआ और उसी सर्ग के ३७ और ३८ श्लोक में विश्वामित्र का आगमन हुआ है। इन्हीं तीस श्लोकों में राम के आरंभिक बीस वर्ष मानो समा जाते हैं। जिसे बालकांड कहा गया है, उसमें बालक राम की कोई बात हमें प्राप्त नहीं होती। कुलगुरु वसिष्ठ ने बालकों के जातकर्म आदि संस्कार कराए तथा राम घोड़े पर बैठकर शिकार करने जाते थे, इतनी ही बात यहाँ हमें प्राप्त होती है।

जिनके लिए हम और हमारे कथाकार सतत रामचंद्र जैसा शब्द प्रयुक्त करते हैं, उस शब्द का विनियोग महर्षि वाल्मीकि ने समग्र रामायण में कहीं नहीं किया है। महर्षि वाल्मीकि ने सर्वत्र 'राम' शब्द का ही प्रयोग किया है। राजा दशरथ ने बालकों के जन्म के बाद ग्यारहवें दिन उनका नामाभिधान किया है (चारों पुत्रों का नामाभिधान इस ग्यारहवें दिन एक ही साथ हुआ है, इसका अर्थ यह होता है कि चारों पुत्र एक ही दिन जनमे हुए होने चाहिए। राम ज्येष्ठ पुत्र हैं और भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न क्रमानुसार कनिष्ठ भ्राता हैं, ऐसा हम मानते हैं और इस मान्यता को सार्वत्रिक स्वीकृति प्राप्त हुई है, पर इन चारों पुत्रों के जन्म के विषय में जो तीन या चार श्लोक उपलब्ध होते हैं, उनमें कहीं भी ऐसी स्पष्टता नहीं है। मात्र रामजन्म के श्लोक के बाद भरतजन्म का श्लोक है और भरतजन्म के श्लोक के बाद लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न के जन्म का श्लोक दिया गया है। श्लोक के क्रम के आधार पर हम इन चारों भाइयों के जन्म का क्रम भी स्वीकार करते हैं, पर उनके नामकरण संस्कार ग्यारहवें दिन एक साथ हुए हैं, यह बात ध्यान में रखनी चाहिए।)

इस प्रकार ग्यारहवें दिन राजा दशरथ के इस ज्येष्ठ पुत्र को जो नाम मिला है— वह स्पष्टत: 'राम' ही है,

'रामचंद्र' नहीं है।

राम के जीवन की सर्वप्रथम उल्लेखनीय घटना ऋषि विश्वामित्र के आगमन के साथ ही होती है। इक्ष्वाकु-वंश में कुलगुरु वसिष्ठ और विश्वामित्र दोनों व्यक्तियों के नाम वेदग्रंथों से लेकर अन्यत्र अनेक स्थलों पर प्रयुक्त हुए हैं। ये दोनों व्यक्ति इतने दीर्घकाल तक एक ही हों, ऐसा मानना कुछ ज्यादा ही कहा जाएगा। संभावना यह है कि ये दोनों किसी परंपरानुसार स्थापित हुए कोई पद ही हों और इस पद पर जो कोई व्यक्ति क्षमतानुसार आरूढ़ हो, उसकी भी उसी नाम से अर्थात् विश्वामित्र या वसिष्ठ जैसे निश्चित नाम से ही पहचान कराई जाती रही हो। आज भी हम बदरी, शृंगेरी, द्वारका और जगन्नाथपुरी—इन चार आदि शंकराचार्य स्थापित मठों के सिंहासनारूढ़ संन्यासी को शंकराचार्य ही कहते हैं। आदी शंकराचार्य भले ही आठवीं शताब्दी में हो गए हों, पर आज बारह सौ वर्ष बाद भी उनके द्वारा स्थापित किए गए पीठों के मठाधीश शंकराचार्य के नाम से ही जाने जाते हैं।

विश्वामित्र किस प्रदेश में रहते थे, इस विषय में कोई निश्चित अनुमान कर पाना संभव नहीं। यह प्रदेश अयोध्या से पूर्व में कहीं चार दिन की पैदल यात्रा जितने अंतर पर होना चाहिए। इतना ही नहीं, यह प्रदेश मिथिला से दो दिन की पैदल यात्रा जितना होगा, ऐसा अनुमान भी लगाया जा सकता है। इस अनुमान का कारण यह है कि राम तथा लक्ष्मण को विश्वामित्र के साथ अयोध्या से निकलकर यज्ञस्थल पर पहुँचने में चार दिन लगे हैं। इसी तरह यज्ञस्थल से मिथिला पहुँचने में उन्होंने दो रातें व्यतीत की थीं। इस तरह विश्वामित्र का आश्रम राजा जनक की मिथिला नगरी से अधिक अंतर पर नहीं है। ऐसा होते हुए भी विश्वामित्र ने यज्ञ की रक्षा के लिए जनक के पास नहीं, बल्कि दशरथ के पास से सहायता प्राप्त करने का निश्चय किया है, यह ध्यान देने योग्य है। इतना ही नहीं, ऐसी कोई सहायता यदि मात्र यज्ञ की रक्षा तक ही सीमित होती तो मिथिला की सेना भी पर्याप्त समझी जाती। पर विश्वामित्र ने दशरथ से भी कोई सैन्य-सहायता नहीं माँगी, केवल राम की ही माँग की है। राम तो अभी तरुणावस्था में थे। इतना ही नहीं, अस्त्र-शस्त्र विद्या के ज्ञाता भी नहीं हुए थे। ऐसे राम ही यज्ञ की रक्षा कर सकते हैं, विश्वामित्र के इस विश्वास के पीछे कोई गूढ़ तर्क भी अवश्य ही समाया हुआ होना चाहिए। विश्वामित्र की इस माँग को कुलगुरु वसिष्ठ ने भी समर्थन दिया है। यह बात याद रखने लायक है। इस प्रकार, विश्वामित्र और वसिष्ठ—ये दोनों ऋषि अपने तपोबल से कुछ अगोचर निरख रहे हों, ऐसा प्रतीत होता है।

विश्वामित्र के यज्ञ में मारीच और सुबाहु जैसे राक्षस तथा ताड़का जैसी राक्षसी द्वारा विघ्न पैदा होते थे। ऋषि ने मात्र राम की माँग की थी, लक्ष्मण का कोई भी उल्लेख उन्होंने नहीं किया था। थोड़ी आना-कानी के बाद राजा दशरथ ने पुत्र को भेजने की सहमति दी। इस सम्मति में जैसे लक्ष्मण का समावेश स्वयमेव हो गया हो, इस प्रकार लक्ष्मण उसमें शामिल हो गए हैं। दोनों भाइयों के बीच की अभिन्नता का आरंभ यहीं से ही दृष्टिगोचर होता है। इसके बाद सर्वत्र मानो राम मात्र राम ही नहीं, राम और लक्ष्मण दोनों हों, ऐसा ही अर्थ होता रहा है।

विश्वामित्र ने अस्त्र-शस्त्र के ज्ञान के लिए राम को दीक्षित किया और अयोध्या से यज्ञस्थल की यात्रा में ही तमाम दिव्य-अस्त्रों तथा शस्त्रों का ज्ञान उन्हें दिया। ज्ञान देने की इस प्रक्रिया में भी विश्वामित्र ने लक्ष्मण को न तो दीक्षित किया और न ही कोई ज्ञान दिया। जो अस्त्र-शस्त्र विश्वामित्र के पास से राम को प्राप्त हुए हैं, उनका महर्षि वाल्मीकि ने अद्भुत सजीवारोपण किया है। ये शस्त्र ऐसे हैं कि राम की इच्छा मात्र से अथवा मंत्रोच्चार मात्र से देहरूप में प्रकट होते हैं। प्रकट होने के बाद ये शस्त्र मंत्र के उद्गाता के साथ संवाद भी करते हैं। यह सजीवारोपण शस्त्रों को हिंसा के स्थूल साधनों की बजाय उन्नत कर्मों का दिव्य आयुध बना देते हैं। शस्त्र-प्राप्ति के बाद राम ने अपने जीवन का जो पहला संहार किया है, वह एक नारी के देह का संहार है। यह घटना ध्यान देने योग्य है। राम के शस्त्र से मारी जानेवाली सर्वप्रथम ताड़का थी।

विश्वामित्र के यज्ञ को निर्विघ्न पूर्ण कराने के बाद राम तुरंत अयोध्या वापस नहीं लौट जाते हैं। उनकी शिक्षा का ही एक भाग-रूप हो, इस तरह विश्वामित्र ने उन्हें मिथिला में जनक के पास रहनेवाले एक प्रभावी और भव्य शिव-धनुष का दर्शन कराने का निश्चय किया। मिथिला में कोई सीता स्वयंवर आयोजित नहीं हुआ था। हाँ, राजा जनक किसी यज्ञ का आयोजन अवश्य कर रहे थे, पर उस यज्ञ में दशरथ या विश्वामित्र कोई निमंत्रित नहीं थे। तथापि विश्वामित्र सहज भाव से राम-लक्ष्मण को अपने साथ उस अपूर्व शिव-धनुष के दर्शन के लिए मिथिला ले जाते हैं। इस यात्रा के दौरान ही आर्यावर्त्त का भूगोल, इक्ष्वाकु-वंश का इतिहास तथा वेद का आध्यात्मिक रहस्य विश्वामित्र ने अपने इन शिष्यों को सिखाया है। राम की शिक्षा के विषय की दूसरी कोई बात हमें रामायण में अन्यत्र कहीं जानने को नहीं मिलती।

मिथिला-प्रवेश से पूर्व अहिल्या-उद्धार की जो घटना हुई है, वह राम के व्यक्तित्व के एक विशेष पहलू को समझने के लिए उपयोगी सिद्ध हो, ऐसी है। अहिल्या एक ऐसी नारी थी कि जिसने एक इंद्रियजन्य स्खलन के कारण जीवन से रुचि खो डाली थी। वह गौतम ऋषि के शाप के कारण शिला बन गई थी या वायु तथा भस्म के बीच अदृश्य हो गई थी, इस कथा को प्रतीकात्मक समझकर उसका संकेत पकड़ें तो यही कहा जा सकता है कि वह लज्जित, तिरस्कृत और बहिष्कृत नारी एकाकी अवस्था में रस और चेतना से रहित जीवन जी रही थी। राम के संस्पर्श से उसमें वर्षों दबा अपराध-भाव नष्ट हो गया। एकाध बार जाने-अनजाने हो जानेवाला पापकर्म किसी परम चेतना के संस्पर्श से विलीन हो जाता है और व्यक्ति नए सिरे से विशुद्धि के मार्ग पर जीवन जी सकता है। राम के पास ऐसी चेतना थी और अहिल्या ने अपने पापकर्म का पूर्ण प्रायश्चित्त कर लिया, यही इस घटना का संकेत है। यह रूपक-कथा आगे चलकर भी राम के व्यक्तित्व के इस पहलू को सार्थक ठहराए, ऐसी है।

राजा जनक ने अपनी पुत्री सीता के विवाह के लिए शिव-धनुष के भंग की नहीं, बल्कि उसकी प्रत्यंचा चढ़ा सकने की पूर्व शर्त रखी थी। विश्वामित्र ने 'उनके शिष्य शिव-धनुष का दर्शन करना चाहते हैं' इतना ही कहा है और जनक ने यह धनुष उन दोनों राजपुत्रों को दिखलाते समय ऐसी सहज इच्छा प्रकट की है कि यदि राम इसकी प्रत्यंचा चढ़ा सकें तो मैं सीता का विवाह उनके साथ करा दूँगा। इसके बाद राम ने विश्वामित्र की आज्ञा लेकर धनुष को उठाया और जब उस पर प्रत्यंचा चढ़ाने लगे तो वह टूट गया। इस प्रकार बात-बात में राम और सीता का विवाह अनायास ही निश्चित हो गया। राम और सीता ने विवाह से पूर्व एक-दूसरे को देखा नहीं था। कोई स्वयंवर आयोजित नहीं हुआ था। धनुर्भंग से पूर्व उद्यान में राम और सीता मिले और परस्पर आकर्षित हुए, ऐसी बात वाल्मीकि ने रामायण में कहीं नहीं कही है। धनुर्भंग के बाद जनक ने अपने छोटे भाई कुशध्वज की दो पुत्रियों का भी अपनी दो पुत्रियों के साथ इक्ष्वाकु-वंश के इन चारों कुमारों के साथ विवाह का प्रस्ताव रखा है। प्रस्ताव का यह संदेश लेकर जिन दूतों को जनक ने अयोध्या भेजा है, वे चौथे दिन अयोध्या पहुँचे हैं। इस संदेश में दशरथ को कहा गया है—''हे राजा! विश्वामित्र के साथ अचानक घूमते-घूमते पहुँचे आपके पुत्र राम ने अपने पुरुषार्थ (पौरुष) से मेरी पुत्री को प्राप्त किया है।'' इसमें प्रयुक्त 'अचानक घूमते-घूमते' शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। आरंभ में मात्र राम और सीता के विवाह की बात हुई है। पर उसके बाद अन्य पुत्रियों के विवाह की बात जनक ने की है।

विवाह के बाद अयोध्या वापस लौट रहे राम का मिथिला नगरी के बाहर ही महर्षि परशुराम के साथ जो संघर्ष हुआ है, उस संघर्ष के विषय में थोड़ा विचार करना आवश्यक है। राम ने शिव-धनुष को भंग किया, यह घटना जानकर परशुराम क्रोधावेश में राम के साथ युद्ध करने के लिए उद्यत हो जाते हैं। जो धनुष तोड़ा गया था, उस पर परशुराम का कोई अधिकार नहीं था। स्वयं भगवान् शंकर ने प्रसन्न होकर जनक के पूर्वज महाराज देवरात को यह धनुष सौंपा था। अपनी पुत्री के लिए इस धनुष को राजा जनक द्वारा दाँव पर लगाने की बात सर्वविदित थी। इससे

पूर्व अनेक राजाओं ने जनक की यह शर्त पूरी करने के लिए निष्फल प्रयास भी किए थे और अपनी निष्फलता के कारण रोष से भरे इन राजाओं ने जनक के साथ युद्ध भी किए थे, ऐसी कथा रामायण में अवश्य है।

इस प्रकार, जिस धनुष के साथ जिनका कोई लेना-देना नहीं था और जो बात सर्वविदित थी, उसकी जानकारी से परशुराम क्यों क्रोधित हुए? इतना ही नहीं, रोष के इस आवेश में अकारण युद्ध करने तक पहुँच गए, यह समझी न जा सके, ऐसी बात है। एक ऐसा खुलासा किया जा सकता है कि परशुराम पूर्व-जीवन में क्षत्रियों के प्रति वैराग्नि से प्रज्वलित थे। उन्होंने इस वैरभाव (प्रतिशोध भाव) से प्रेरित होकर ही असंख्य क्षत्रियों का अकारण वध किया था, यह कथा प्रचलित है। राम के शिवधनुष-भंग के पराक्रम से नए सिरे से इस क्षत्रिय तेजस्विता के युग का आरंभ हो रहा है, ऐसा कोई संकेत परशुराम ने देखा हो, इस संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। परशुराम राम के साथ युद्ध करने के आवेश से एक अन्य धनुष साथ लेकर आए और मार्ग में ही राम को रोककर, इस धनुष की प्रत्यंचा नए सिर से चढ़ाकर अपना सामर्थ्य दरशाने की चुनौती दी। यदि राम इस धनुष की प्रत्यंचा चढ़ा सकें तो परशुराम उनके साथ द्वंद्वयुद्ध करेंगे, यह भी उन्होंने चुनौती दी।

इसमें किसी भी समझदार व्यक्ति के मन में सहज ही यह प्रश्न उठ सकता है कि राम यदि परशुराम द्वारा दी गई चुनौती के अनुसार प्रत्यंचा चढ़ा दें तो ही परशुराम उनके साथ युद्ध करेंगे, ऐसा कहा है; परंतु राम यदि यह प्रत्यंचा चढ़ा न सकें तो युद्ध के विकल्प के रूप में परशुराम का अगला कदम क्या होगा? इसका कोई उत्तर नहीं मिलता। राम ने अत्यंत सहजता से परशुराम के वैष्णव धनुष की प्रत्यंचा चढ़ा दी। इतना ही नहीं, अब प्रत्यंचा पर चढ़ा बाण किसके विनाश के लिए छोड़ें, यह प्रश्न भी राम ने परशुराम से किया है। परशुराम ने तत्काल पराजय स्वीकार की है। प्रत्यंचा चढ़ाने की पूर्व-शर्त पूरी करने के लिए तो परशुराम को राम से युद्ध करना चाहिए था, पर उन्होंने यह नहीं किया। प्रत्यंचा चढ़वाने मात्र से ही उन्होंने दीन और विनीत भाव से राम से प्रार्थना की है—''अपने बाण से मेरी तपश्चर्या को आप नष्ट कर डालें।''

इस प्रकार परशुराम ने अकारण ही अपनी तपस्या का नाश क्यों किया, यह समझ में न आनेवाली समस्या है। राम के हाथों अपने पुण्यकर्मों का क्षय कराकर परशुराम तत्काल वहाँ से विदा हो गए। इसका एक यह भी अर्थ लगाया जा सकता है कि जो अकारण ही किसी की उन्नति देखकर द्वेष या रोष करते हैं, उनके पुण्यकर्म नष्ट हो जाते हैं। व्यवहार में भी इस प्रकार का द्वेष ही जिनका स्वभाव है, ऐसे व्यक्ति प्रकृति से तेजहीन और निम्नकोटि के मानवीय गुणों से घिरे हुए होते हैं।

राजा दशरथ ने पुत्र राम को जब उनके राज्याभिषेक का निर्णय बताया तो राम ने कोई भी प्रतिभाव दरशाए बिना इस समाचार को नितांत तटस्थ भाव से स्वीकार कर लिया है। इसी प्रकार आगे जाकर जब वचनबद्ध दशरथ, पत्नी कैकेयी द्वारा राम के अरण्यवास की बात बताते हैं तब भी राम ऐसी ही तटस्थता, नितांत निर्लिप्त भाव से उसे स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार युवा राम के चरित्र में निहित निर्लेपता इन दोनों प्रसंगों में एक ही साथ प्रकट हुई है। निर्लेपता का ऐसा उच्चतम दर्शन कराने के बाद राम ने जीवन में अनेक प्रसंगों में दु:ख और आघात से व्याकुल होकर विलाप भी किया है और आँसू भी बहाए हैं। राम का यह मानवीय लक्षण अत्यंत आकर्षक बन पड़ा है। सुख और दु:ख दोनों ही स्थितियों में संयम बनाए रखना उत्तम मानवीय लक्षण हैं और यह लक्षण महान् व्यक्ति कई बार प्रकट भी करते हैं; परंतु एक बार जिसने ऐसी तटस्थता दिखाई, उससे ऐसे ही तटस्थ व्यवहार की अपेक्षा जीवन में हर बार नहीं की जा सकती है। राज्य-प्राप्ति या अरण्यवास के संबंध में राम ने जो उत्तम तटस्थ भाव दिखाया है, उसका सतत अनुसरण नहीं हुआ, यह राम के मनुष्यत्व का द्योतक है (स्मरण रहे कि कृष्ण-चरित्र में ऐसा नहीं होता। कृष्ण अपना साक्षीभाव सदैव अक्षुण्ण रख सके हैं)।

राज्याभिषेक के बदले अरण्यवास का समाचार सुनाने के लिए राम को कैकेयी के महल में बुलाया जाता है। वहाँ राम ने पिता को विषाद और संताप से व्याप्त अवस्था में देखा तो विक्षुब्ध होकर उन्होंने पिता की इस अवस्था के लिए जो आशंका व्यक्त की है, उसमें राम की निर्मलता दिखाई दिए बिना नहीं रहती। राम कैकेयी से कहते हैं —''माँ! मुझसे कहीं ऐसी कोई भूल तो नहीं हो गई कि जिसके कारण पिताजी को दु:ख हुआ हो! उनका स्वास्थ्य तो ठीक है न? कहीं आपने ही उनके मन को अप्रिय लगनेवाली कोई बात तो नहीं कही न? जिसने उन्हें नाराज किया हो, ऐसे किसी भी व्यक्ति को मैं दंड दिए बिना नहीं रहूँगा।'' राम के इन तर्कों में पिता के प्रति प्रेम और चिंता ही व्यक्त होती है। कैकेयी ने जब राजा की इस अवस्था का कारण राम के अरण्यवास का अपने द्वारा लिये गए वचन को बताया तो राम ने कहा, ''ओ हो! इसमें क्या है? राम राज्य करे या भरत, बात तो एक ही है। इतनी सी बात तो पिताजी को बीच में लाए बिना आपने ही कह दी होती तो चलता।''

राम को वनवास देने के पिता के अनुचित मनोभाव के विषय में लक्ष्मण रोष से भर उठते हैं तो उन्हें शांत करते हुए राम कहते हैं कि जो घटना हम समझ नहीं सकते, वह घटना दैवाधीन होती है। माता कैकेयी हमें पुत्रवत् प्रेम करती थीं, फिर भी उन्होंने ऐसा व्यवहार किया, इसके लिए अपयश माता कैकेयी को नहीं, बल्कि प्रारब्ध को ही देना चाहिए। जिस सुख-दु:ख या लाभ-हानि के कारण अगम्य होते हैं, उन्हें दैवी-कर्म मानकर मनुष्य को स्वीकार कर लेना चाहिए।

परंतु अब तक संयत रहे राम, जब माता कौशल्या विलाप करती हैं तो संयम नहीं रख पाते। पुत्र-वियोग के कारण होनेवाले जिन संभावित महादु:खों की कल्पना माता कौशल्या करती हैं, उससे राम पहली बार विचलित हो गए हैं और कोई भी पुत्र माता के ऐसे संभावित दु:खों के सामने लाचार होकर जिस तरह रो उठता है, उसी तरह राम ने भी अश्रुधारा बहाते हुए रुदन किया है। इसमें राम के आँसू अपने स्वयं के विषाद या दु:ख के कारण नहीं हैं, बल्कि माता की वेदना से व्यथित होने के कारण हैं।

रुदन करती माता कौशल्या ने स्वयं को भी वन में ले जाने का आग्रह पुत्र के समक्ष किया है। इस आग्रह के प्रत्युत्तर में राम ने 'पति जब तक जीवित हो तब तक उसकी सेवा ही स्त्री का धर्म है', इस तरह अपनी माता को समझाया है। इतना ही नहीं, पुत्र के वियोग में राजा दशरथ कहीं अपनी जीवनलीला ही न समाप्त कर लें, इसका ध्यान रखने के लिए भी माता को पिता के साथ ही रहना चाहिए, ऐसा कहा है। पत्नी का धर्म पति के साथ रहकर उसकी सेवा करना ही है, ऐसा माता से उन्होंने विस्तारपूर्वक कहा है। पत्नी का यह धर्म माता को समझानेवाले राम ने इसके ठीक विपरीत तर्क सीता के समक्ष किया है। सीता ने पति के साथ वनगमन की माँग की तो राम ने उनसे वन में आ पड़नेवाले संभावित कष्टों की बात कही है। इसके जवाब में सीता ने राम के समक्ष पत्नी-धर्म की वही दलीलें अधिक तर्कपूर्ण ढंग से रखी हैं, जो उन्होंने कौशल्या के समक्ष रखी थीं। सीता ने राम के पौरुष को भी मानो डंक मारा हो, इस तरह उनकी रक्षा के लिए राम जवाबदेही लेने में भय खाते हों, ऐसा धारदार आक्षेप भी किया। इस आक्षेप के बाद ही राम सीता को अपने साथ ले जाने के लिए सहमत हुए थे।

राम के चित्त में वनगमन के क्षण भी भरत तथा कैकेयी के प्रति आशंका है। सीता से अयोध्या में ही रहने का आग्रह करते समय राम ने कहा है कि सीता को भरत के समक्ष कभी भी राम की प्रशंसा नहीं करनी चाहिए। भरत अब हमेशा के लिए राजा बन रहे हैं, इसलिए उन्हें प्रसन्न रखने के लिए सीता को प्रयत्न करना चाहिए (अयोध्याकांड-२६/२७)। राम ने रोष से भरे लक्ष्मण से भी ऐसी ही बात की है। राज्य हस्तगत करने के बाद कैकेयी कौशल्या और सुमित्रा के साथ अच्छा व्यवहार नहीं करेगी और भरत भी कैकेयी का कहा मानकर दोनों माताओं का भरण-पोषण नहीं करेंगे, ऐसी आशंका राम ने व्यक्त की है।

राम में विनोदवृत्ति का अंश भी था और वनगमन के दारुण क्षण में यह विनोदवृत्ति प्रकट हुई है; हालाँकि समग्र रामायण में इस एक श्लोक को छोड़कर राम ने ऐसा हलका मजाक कभी नहीं किया। अरण्य-प्रस्ताव के पूर्व क्षण में राम ने ब्राह्मणों को दान दिया है। यह दान लेने के लिए राम के समक्ष उपस्थिति हुए एक ब्राह्मण से राम ने कहा है, ''हे भूदेव (ब्राह्मण देवता)! यहाँ मेरी असंख्य गायें बैठी हैं। आप अपने हाथ में लिया दंड जितनी दूर तक फेंक सकेंगे, उतने विस्तार में बैठी गायें मैं आपको दान में दूँगा।'' इसके बाद ब्राह्मण ने अपना दंड बलपूर्वक फेंका और सैकड़ों गायें दान में प्राप्त कीं। राम का यह विनोद तत्कालीन परिस्थिति से मेल नहीं खाता और ऐसा कोई मजाक इससे पूर्व या इसके बाद भी राम ने कभी नहीं किया।

सामान्यत: पुत्र मेरी आज्ञा को स्वीकार करे, ऐसी इच्छा हर पिता को होती है। आज्ञाकारी पुत्र होना पिता के लिए सौभाग्य माना जाता है। राम जिस तरह पिता की आज्ञा को (उन्होंने स्वयं अपने मुख से कुछ नहीं कहा था, इसके बावजूद) स्वीकार करते हैं, उससे व्यथित होकर दशरथ कहते हैं कि राम उनकी आज्ञा का अनादर करें तो अच्छा! यह एक नाजुक और अतिशय रसप्रद घटना है। वनगमन के क्षण राम को कुछ दूर तक छोड़ने के लिए जा रहे दशरथ दूर से सुमंत्र से भारी आवाज में, पर रोते-रोते कहते हैं कि सुमंत्र, थोड़ी देर के लिए खड़े रहो, मैं फिर एक बार राम को देख लूँ। उस समय राम ने सुमंत्र से कहा है कि अब रथ को इस तरह बार-बार रोकने से पिता को अधिक दु:ख होगा, इसलिए सुमंत्र अब रथ न रोकें और आगे ही ले जाएँ।

राजा की आज्ञा और राम का आदेश—इन दोनों के बीच फँसे सुमंत्र ने अपनी उलझन व्यक्त की तो राम ने सुमंत्र को असत्यवादन की सलाह दी है। उन्होंने कहा, ''सुमंत्र, वापस जाने पर पिताजी पूछें तो कहना कि मैंने आपकी आज्ञा सुनी ही नहीं थी।'' सुमंत्र का यह असत्यवादन 'सत्य' और 'असत्य' किसे कहा जाए—इस विषय के अति सूक्ष्म और अत्यंत विवादास्पद मुद्दे को स्पष्ट करता है। राम का हेतु दशरथ को और कोई अधिक मानसिक व्यथा न हो, यह देखना था और इसके लिए सुमंत्र यदि थोड़ा असत्यवादन करें तो पिता को अकारण व्यथित होने की आपदा से उबारा जा सकता है, इस तरह व्यापक सत्य की रक्षा के लिए संकुचित सत्य का त्याग करना महाभारत में कृष्ण द्वारा कहे गए 'सत्य' का ही मानो बीज है।

कौशल का प्रदेश सकुशल पार करने के बाद श्रृंगवेरपुर नगरी की सीमा के समीप राम ने रात्रिगमन किया है। निषादराज गुह राम का आत्मीय मित्र होने का उल्लेख वाल्मीकि ने किया है। जहाँ तक राम के मित्रों का संबंध है, वहाँ तक रामायण में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता, जिसमें राम को सहज ही मित्र मिल गए हैं। विभीषण या सुग्रीव को ऐसा मित्र नहीं कहा जा सकता है। राम के इन दोनों के साथ के मैत्री-संबंध निश्चित ही हेतुपूर्वक रहे हैं। यहाँ निषादराज गुह को राम का आत्मीय मित्र कहा अवश्य गया है, परंतु इस आत्मीयता के इससे पहले कहीं भी संकेत नहीं मिलते । राम और गुह के बीच किसी भी प्रकार का संबंध इससे पहले और इसके बाद भी नहीं हुआ।

उत्तरकांड में सीता विषयक लोक-निंदा राम ने मित्रों से जानी, ऐसा उल्लेख है और ऐसे दस मित्रों के नाम भी वहाँ दिए हैं। इसके सिवाय मैत्री-संबंधों में रामयण में से खास कुछ जानने को नहीं मिलता। महाभारत में सुदामा, द्रौपदी, उद्धव या अर्जुन के साथ कृष्ण के जो विशिष्ट और विशेष मैत्री-संबंध हैं, ऐसा कोई भी मैत्री-संबंध रामायण में नहीं है।

नदी पार करते समय राजा गुह द्वारा राम के चरण धोने की बात वाल्मीकि रामायण में नहीं है। यह कथा अनुवर्ती रामायणों में—खासतौर से तुलसीदास ने—कही है। नदी पार करने के समय सुमंत्र ने राम के साथ ही वन में जाने का आग्रह किया तो राम ने उन्हें अयोध्या वापस जाने का जो सुझाव दिया, उसका तर्क राम की दीर्घदृष्टि को यथार्थ ठहराए, ऐसा है। राम ने कहा, ''यदि आप अयोध्या वापस लौटेंगे तो माता कैकेयी को संतोष होगा कि राम वन में

चले गए हैं। यदि आप वापस नहीं लौटेंगे तो उनके मन में आशंका बनी रहेगी और इस आशंका के कारण कैकेयी धर्मपरायण राजा दशरथ को मिथ्यावादी कहेंगी, यह उचित नहीं।''

दु:ख के आगमन से पूर्व मनुष्य साहसपूर्वक उसे स्वीकार करता है, परंतु जब उस दु:ख का साक्षात्कार होता है तो यह साहस समाप्त हो जाता है। राम में भी ऐसा ही हुआ है। असीम जंगल में राम पुन: विलाप करने लगते हैं, दीन-हीन वदन से आँसू बहाने लगते हैं और लक्ष्मण से कहते हैं—''मैं अधर्म और परलोक से डरता हूँ, इसीलिए मैंने अयोध्या के सिंहासन पर अपना राज्याभिषेक बलपूर्वक नहीं कराया।'' इतना ही नहीं, दशरथ के विषय में भी राम कहते हैं कि उन्होंने ऐसे आज्ञाकारी पुत्र को एक स्त्री के कहने से त्याग दिया और अब भरत इस राज्य का निष्कंटक उपभोग करेंगे। इसे देखते हुए ऐसा लगता है कि धर्म निरर्थक है और काम ही सर्वोपरि है। राम का यह आक्रंद तथा आक्रोश दोनों शुद्ध मनुष्यत्व के ही अनुरूप हैं।

अयोध्या और चित्रकूट के बीच का अंतर दो रात्रि के प्रवास जितना हो, ऐसा लगता है। राम के चित्रकूट में वास करने के बाद भरत जब उनसे मिलने गए तो उन्होंने दो रातें यात्रा में बिताई हैं। राम-भरत का यह मिलन राम के अयोध्या त्याग के बाद अधिक-से-अधिक एक महीने में हुआ होगा, ऐसा तार्किक रूप से अनुमान लगाया जा सकता है। इस कालावधि में राम ने जगह-जगह हिंसक पशुओं का वध किया है तथा शिकार खेला है, ऐसे उल्लेख हैं। मृगया (आखेट) खेलना तत्कालीन क्षत्रियों का शौक था, ऐसा संभव है और राम इसके अपवाद नहीं। बाली-वध के समय भी राम ने मृगया के अपने इस शौक का बचाव किया है।

राम-भरत मिलन के विवरण इससे पहले हम भरत के पात्र का दर्शन करने के दौरान देख चुके हैं, इसलिए यहाँ पुनरावर्तन से बचते हैं; परंतु चौदह वर्ष के अंत में वे स्वयं राज्यभार सँभाल लेंगे, यह स्वीकार करने में राम पिता की आज्ञा से भटक गए हैं, इसे स्वीकार करना पड़ेगा। भरत, वसिष्ठ तथा अयोध्या की प्रजा के प्रेम के समक्ष राम झुक गए और चौदह वर्ष के अंत में वे पिता की आज्ञा के अनुसार अयोध्या वापस लौटेंगे और राज्य भी सँभालेंगे, यह वचन दिया। पिता की आज्ञा चौदह वर्ष के वनवास के लिए थी और चौदह वर्ष के अंत में राज्य वापस लेने की कोई बात नहीं थी। राज्य तो भरत को हमेशा के लिए दिया जा चुका था। यहाँ राम व्यवहार में भी स्थिति-स्थापकता स्वीकार करते हैं और चुस्त जड़ता का त्याग करते हैं। इस स्वीकार या त्याग दोनों का पक्ष और विरोध में मूल्यांकन किया जा सकता है। राम ने यदि पिता की आज्ञा इस प्रकार आधी निरर्थक की तो उसी तरह वे भरत, वसिष्ठ तथा अन्य प्रजाजनों की इच्छा का सम्मान करके पूर्णत: भी व्यर्थ कर सकते थे, परंतु यहाँ राम ने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया है।

चित्रकूट भौगोलिक दृष्टि से अयोध्या के एकदम नजदीक है। जिस तरह भरत यहाँ आए, उसी तरह भविष्य में भी अन्य अयोध्यावासी यहाँ आते रहें, ऐसी संभावना थी। इतना ही नहीं, जिस स्थान पर भरत तथा अन्य लोगों के साथ राम की मुलाकात हुई, वह स्थल सतत उन्हें इस मुलाकात का स्मरण दिलाता रहेगा। इससे मुक्त होने के लिए राम ने चित्रकूट त्यागकर दंडकारण्य में प्रवेश किया। रानी कैकेयी ने जब राम के लिए वनवास माँगा है तो राम को मात्र वन में ही नहीं, बल्कि दंडकारण्य में ही भेजे जाने की माँग की है।

यह दंडकारण्य किसी निश्चित विस्तार का नाम हो, इस बारे में तो शंका ही नहीं। यह स्थान घोर वनराइयों से व्याप्त और राक्षसों द्वारा शासित प्रदेश है, ऐसी स्पष्टता भी अन्यत्र मिलती है। इस प्रदेश पर आधिपत्य प्राप्त कर रावण ने शूर्पणखा को यह प्रदेश यथेच्छ विहार के लिए दिया था, ऐसी कथा अन्यत्र मिलती है। शूर्पणखा की रक्षा के लिए रावण ने खर तथा दूषण के नेतृत्व में चौदह हजार राक्षसों की सेना इस प्रदेश में रखी थी।

यह प्रदेश वर्तमान संदर्भ में निश्चित रूप से किस स्थल पर होगा, यह विद्वानों के बीच विवाद का प्रश्न है।

सामान्य मान्यता के अनुसार आज हम नासिक और उसके आस-पास के विस्तार को दंडकारण्य मान लेते हैं। राम चित्रकूट तजकर एक-दो दिन महर्षि अत्रि के आश्रम में बिताकर तुरंत ही दंडकारण्य में दाखिल हुए। चित्रकूट अयोध्या से पचासेक मील के परिसर में ही होने के विषय में पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं। इसे लक्ष्य में लेते हुए दंडकारण्य चित्रकूट से नासिक जितने अंतर पर हो, इस विषय में शंका उत्पन्न होती है। राम जब दंडकारण्य में आए तो उस समय दंडकारण्य में बसे हुए ऋषियों ने ऐसा कहा है कि हम आपके राज्य में बसते हैं, इसलिए हमारी रक्षा करना आपका धर्म है। इसे ध्यान में रखें तो जिस दंडकारण्य में रावण का आधिपत्य था, वह दंडकारण्य अयोध्या के राज्य में कैसे हो सकता है, यह प्रश्न उठता है। राम ने इन सभी ऋषियों को रक्षा का वचन दिया तथा धर्मविमुख मांसाहारी राक्षसों का वध करके स्वयं उन सभी तपस्वियों को भयमुक्त करेंगे, ऐसा आश्वासन दिया।

किंतु आश्वासन देना और उस पर अमल करना—इन दोनों के बीच कितना अंतर है, इसका साक्षात्कार राम को तत्काल हो जाता है। जिन राक्षसों के विषय में अब तक मात्र कानोकान बातें ही सुनी थीं, उनके साथ हुए पहले ही संघर्ष में राम जिस तरह टूट जाते हैं और अनाथ की तरह आक्रंद करने लगते हैं, उसे देखकर हमें आश्चर्य होता है। विराध नाम के एक राक्षस ने आक्रमण करके सीता को अपने कब्जे में कर लिया और सीता को अपनी गोद में पकड़े रखकर राम तथा लक्ष्मण को चुनौती दी। इस चुनौती को तत्क्षण वीरता से स्वीकार करने के बदले राम का मुँह सूख-सा गया और रोते-रोते उन्होंने लक्ष्मण से कहा कि यह आपत्ति हमारे ऊपर कैकेयी के पाप से ही आई है। अब सीता का क्या होगा! और इस क्षण पिता की मृत्यु से भी बढ़कर दु:ख हो रहा है।

सदैव राम की छाया जैसे रहे लक्ष्मण की विशेषता यह रही है कि अरण्यवास में या अन्यत्र राम जब संतप्त होकर आक्रंद करने लगते तो हमेशा वे परछाईं से पहाड़ बन जाते हैं। कुरुक्षेत्र के मैदान में युद्ध के समय टूट गए अर्जुन को जिस तरह कृष्ण मनोवैज्ञानिक ढंग से पुन: चेतनशील बनाते हैं, उसी तरह लक्ष्मण भी समय-समय पर राम को विकट क्षण में मनोबल देते हैं। यह पहला प्रसंग है जब गुरुजनों या अन्य किसी की भी मौजूदगी के बिना ही दुर्धर्ष राक्षस का प्रतिकार करना है। ताड़का या मारीच और सुबाहु के प्रतिकार के समय राम ने वीरता दिखाई है, परंतु उस समय गुरु विश्वामित्र सन्मुख ही थे। परशुराम जैसे दु:सह्य सेनानी के सामने राम ने पूर्ण स्वस्थता से टक्कर झेली थी, पर तब पिता दशरथ और अयोध्या की पूरी सेना मौजूद थी। यहाँ विराध के सामने पहली बार राम कठिन परिस्थिति में पड़े हैं। संपूर्ण अस्त्र-शस्त्र विद्या के ज्ञाता होते हुए भी सीता को विराध के हाथ में जकड़ी देखकर वे कुछ क्षण किसी भी सामान्य व्यक्ति की भाँति विचलित हो गए हैं। पर इसके बाद लक्ष्मण की सांत्वना के बाद राम तथा लक्ष्मण ने साथ मिलकर विराध का वध किया और सीता को मुक्त किया।

चित्रकूट से निकलकर राम जब दंडकारण्य में आए तो मुख्य उद्देश्य राक्षसों का नाश करके उस प्रदेश में रहनेवाले ऋषियों को भयमुक्त करना था। राम ने इस प्रकार का वचन भी ऋषियों को दिया था। दंडकारण्य में राम इसके बाद दस वर्ष सुखपूर्वक रहे (अरण्यकांड-११/२४-२५-२६)। इन दस वर्षों में किसी एक स्थान पर लगातार नहीं रहे, बल्कि अनेक स्थलों पर थोड़ा-थोड़ा रहे हैं। इस प्रकार वनवास का अधिकांश समय निर्विघ्न ही व्यतीत किया है। राक्षसों के वध की मुनियों से की गई प्रतिज्ञा का पालन कहीं नहीं हुआ।

इसके पश्चात् गोदावरी-तट पर पंचवटी विस्तार में राम ने निवास किया। पंचवटी के नए स्थान पर शरद और हेमंत ऋतुएँ अर्थात् चार-पाँच महीने व्यतीत किए। इसके बाद शूर्पणखा का प्रसंग हुआ है। शूर्पणखा पंचवटी के आश्रम में रात के समय नहीं आई। प्रात: स्नान करने के बाद राम और सीता बैठे थे, उस समय शूर्पणखा वहाँ आई और राम के दर्शनमात्र से मोहित होकर राम के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखा। राम ने शूर्पणखा के इस प्रस्ताव को मात्र अस्वीकार ही नहीं किया, बल्कि स्वयं तो विवाहित हैं और पत्नी के साथ रहते हैं, ऐसा कहकर शूर्पणखा को

लक्ष्मण के पास जाने का सुझाव दिया। इस सुझाव में लक्ष्मण के लिए 'श्रीमानकृतदार' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका शाब्दिक अर्थ 'लक्ष्मण भार्या (पत्नी) विहीन' है, ऐसा होता है। परंतु राम तो क्या, हम सभी जानते हैं कि लक्ष्मण का विवाह उर्मिला के साथ हो चुका था। यहाँ भार्याविहीन शब्द का अर्थ उस समय वे अकेले रहते थे, पत्नी साथ में नहीं थी, यही लगाना चाहिए। फिर भी कई अति बौद्धिक विद्वान् राम के इन शब्दों को अकारण और अमर्यादित महत्त्व देकर लक्ष्मण का विवाह नहीं भी हुआ हो, ऐसी आशंका व्यक्त करते हैं।

शूर्पणखा मोहवश थी परंतु प्रेमवश नहीं थी। लक्ष्मण ने भी उसको अस्वीकार किया और उसे पुन: राम के पास भेजा। मोह अथवा प्रेम के कारण कोई भी स्त्री किसी भी पुरुष से विवाह या दैहिक संबंध की माँग करे, यह घटना कोई अनजानी या अद्भुत नहीं। गंगा ने ऐसी ही माँग कुरुकुल के वरिष्ठ पुरुष प्रतीप से की थी। पुरुरवा से उर्वशी ने भी ऐसी ही याचना की थी। इस प्रकार शूर्पणखा की यह माँग अनुचित हो तो भी अपूर्व नहीं। उलटे शूर्पणखा की इस माँग को जिस तरह राम और लक्ष्मण ने उपहास का पात्र बनाया, उसमें औचित्य का ध्यान रखा गया हो, ऐसा नहीं लगता है। क्रोध में भरी शूर्पणखा ने सीता को चोट पहुँचाने की चेष्टा की तो लक्ष्मण ने उसके नाक-कान काट डाले और यहीं से महायुद्ध की नींव पड़ी, ऐसा कहा जा सकता है। राम और लक्ष्मण का शूर्पणखा के साथ का व्यवहार उपहास से भरा है। और यह भी याद रखना चाहिए कि यह पूरा प्रदेश शूर्पणखा के आधिपत्य में था।

शूर्पणखा की घटना के बाद खर-दूषण आदि चौदह हजार राक्षसों का राम ने नाश किया और इसके परिणामस्वरूप कांचन-मृग और सीताहरण की घटनाएँ हुईं। इन सारे प्रसंगों के विषय में हम अन्यत्र सविस्तार चर्चा कर चुके हैं, इसलिए पुनरुक्ति से बचना चाहिए। कांचन-मृग राक्षसी माया है, इस विषय में लक्ष्मण द्वारा सचेत किए जाने के बावजूद राम उसके पीछे जाते हैं और उसके बाद सभी दुर्घटनाएँ घटित होती हैं। सीताहरण के बाद राम जब उनकी खोज कर रहे होते हैं तो सर्वप्रथम जटायु द्वारा उनका हरण रावण ने किया है, इसकी स्पष्ट जानकारी उन्हें मिलती है। सीता का हरण रावण ने ही किया है और रावण लंका का राजा है—यह जानकारी मिलने के बाद रावण पर आक्रमण करके तुरंत ही सीता की मुक्ति के लिए कोई प्रयास करने के बदले सीता की खोज जारी रहती है, यह आश्चर्यजनक बात है।

राम अकेले थे और अकेले हाथ रावण पर आक्रमण करने में औचित्य नहीं था या राम में ऐसा सामर्थ्य नहीं था —ऐसा तो कोई कह नहीं सकता। राम ने दंडकारण्य में खर-दूषण सहित चौदह हजार राक्षसों को डेढ़ मुहूर्त अर्थात् सवा दो घंटे में मार डाला था, यह याद रखना चाहिए। दंडकारण्य से शूर्पणखा हो या राम द्वारा किए गए नससंहार से बचकर निकल गया राक्षस अकंपन हो—वे सभी जिस तेजी से लंका में पहुँच जाते हैं और जिस तरह रावण भी दंडकारण्य में आ पहुँचता है—वह सब देखते हुए लंका दंडकारण्य से कहीं लगा हुआ होना चाहिए। हनुमान ने जो समुद्र-उल्लंघन किया या राम ने जो सेतु बनाया, ऐसे किसी समुद्र की बात शूर्पणखा या अकंपन के लिए रुकावट नहीं बनी।

सीताहरण के बाद राम ने जो करुण विलाप किया है, वह नितांत मनुष्योचित ही है। यह विलाप एक तरह से देखें तो महर्षि वाल्मीकि की कविता है। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' में राजा पुरुरवा प्रियतमा की खोज करते समय जिस तरह वृक्ष, बेलि, पहाड़, झरनों और पक्षियों से पूछते हैं, उसी तरह राम भी यहाँ अशोक वृक्ष, केल, करेण, मृग, मैना आदि सभी से पूछते हैं। जिस तरह पुरुरवा प्रियतमा के बारे में पूछते समय हर बार उसके अंग-उपांगों तथा स्पर्श के लिए तड़पते हैं, उसी तरह राम भी सीता के स्मरण के समय तड़पते हैं।

राम का पूर्ण मनुष्यत्व उस समय प्रकट होता है जब उनके द्वारा पूछे गए सारे प्रश्न निरुत्तर रह जाते हैं। जब प्रकृति के कोई तत्त्व उत्तर नहीं देते तो जिस तरह सामान्य मनुष्य गुस्सा होकर पुकार लगाने लगता है, उसी तरह राम

भी अशांत होकर सबकुछ तोड़-फोड़ डालने जैसा आक्रोश करते हैं (अरण्यकांड-६४/६०-६१)—''हे लक्ष्मण! अब मैं अपने बाणों से त्रिलोक में सभी प्राणियों का नाश कर डालूँगा! सूर्य, चंद्र, अग्नि इन सबको अंधकारमय बना दूँगा! नदी, सरोवर को सुखा डालूँगा! वृक्षों और लताओं का नाश कर डालूँगा! अब मैं त्रैलोक्य में विनाशलीला ही आरंभ करूँगा!'' अपराधी को पकड़कर उसे दंडित करने के बदले समग्र त्रिलोक का नाश कर डालने की इस अस्वस्थता में राम के सामर्थ्य का दर्शन अवश्य होता है, परंतु प्रभुत्व का दर्शन नहीं होता है। अकारण टिटिहिरी के एक निर्दोष बच्चे का भी नाश न हो, यह देखने की कृष्ण की सावधानी इस क्षण याद करने लायक है।

पंपा सरोवर के तट पर शबरी के साथ राम की मुलाकात होती है। शबरी मतंग ऋषि के आश्रम में अकेली ही रहती थी। शबरी के पूर्ण जीवन के विषय में वाल्मीकि हमें कुछ ज्यादा नहीं बताते। अन्यत्र ऐसे उल्लेख हैं कि शबरी का मूल नाम मालिनी था और अरण्यवासी परिवार में एक राजा की पुत्री के रूप में उसका जन्म हुआ था। शबरी परिणीता (विवाहिता) थी और पति द्वारा शापित होने के कारण पंपा सरोवर के पास मतंग ऋषि के आश्रम में तपश्चर्या कर रही थी। शबरी द्वारा राम को जूठे बेर खिलाए जाने की कथा वाल्मीकि रामायण में है ही नहीं। हालांकि शबरी शिक्षित तथा संस्कारी थी, किंतु वह 'बहिष्कृत वर्ण' यानी कि आदिवासी अथवा शूद्र वर्ण की हो, ऐसी स्पष्टता है। राम का आगमन यहाँ होना ही है, ऐसा वचन उसे मतंग ऋषि ने दिया था। शबरी इस गुरुवचन में श्रद्धा रखकर ही प्रतीक्षा कर रही थी। राम और शबरी का मिलन भक्ति और प्रतीक्षा का सर्वोच्च बिंदु है। विशुद्धि को अन्य किसी प्रमाण-पत्र की या बाह्य उपचारों की आवश्यकता नहीं, इसका ही मानो कवि ने यहाँ निर्देश किया है।

ऋष्यमूक पर्वत पर राम का सुग्रीव के साथ का मिलन पूर्व-नियोजित है। यह आकस्मिक घटना नहीं। इससे पूर्व कबंध राक्षस ने मरते समय राम को सलाह दी थी कि अब सीता को पुन: प्राप्त करने के लिए आपको ऐसे मित्र को ढूँढ़ निकालना चाहिए, जिसकी अवस्था भी आप जैसी ही हो। ऐसा पुरुष सुग्रीव है, क्योंकि सुग्रीव भी आप ही की तरह बाली द्वारा निर्वासित होकर घर से बाहर रहते हैं। आप यदि उनके साथ मैत्री साध लें तो आप दोनों अपने काम में परस्पर सहायभूत हो सकते हैं। कबंध के कहने के अनुसार सुग्रीव की खोज में ही राम ऋष्यमूक पर्वत के समीप आए थे और सुग्रीव के साथ उनका मिलन हुआ था।

इस मैत्री-संबंध में हनुमान ने जो महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, उसकी चर्चा इससे पहले हो चुकी है। सुग्रीव ने राम से बाली-वध करके उनका दु:ख दूर करने को कहा है और बदले में सीता को कहीं से भी खोज निकालने का वचन दिया है। यह मैत्री सहजभाव से होनेवाली निर्व्याज मैत्री नहीं है। यहाँ अग्नि की साक्षी का भी उल्लेख हुआ है। मैत्री में साक्षी का कोई महत्त्व नहीं होता। उसका महत्त्व निश्चित करार में होता है। आगे जाकर एक-दूसरे का काम पूरा हुआ, फिर भी मैत्री अटूट रही; इतना ही नहीं, दोनों के बीच प्रकट हुए निर्व्याज भाव की द्योतक भी बनी है। यह मैत्री आरंभ में एक करारनामा ही है, यह नि:शंक भाव से साबित करता प्रसंग, बाली-वध के बाद सुग्रीव द्वारा सीता की खोज में दिखाई गई उदासीनता पर राम ने जो रोष दिखाया है, उसमें मिलता है। राम ने रोषपूर्वक सुग्रीव को संदेश भेजा है कि जिस प्रकार उन्होंने (राम ने) बाली का नाश किया है, उसी तरह वे सुग्रीव का भी नाश करेंगे। निर्व्याज मैत्री का यह लक्षण नहीं। समय व्यतीत होने के साथ ही उसमें मैत्री के उपरांत भक्ति भी मिली, जो राम और सुग्रीव दोनो पक्षों का औदार्य है।

राम के उदात्त जीवन में कोई भी परम भक्ति यदि बौद्धिक विचारणा से भी थोड़ी भी समझी नहीं जा सकती और उनके जो व्यवहार अत्यंत अगम्य (समझ में न आने लायक) लगे, ऐसे चार प्रसंग हैं। इन चारों प्रसंगों को कथाकारों ने समय-समय पर अलग-अलग आत्यंतिक अर्थघटन करके लोगों के समक्ष रखने के प्रयास किए हैं। ऐसे प्रयासों

में कई बार तो मूल कथानक में जिसका नामोनिशान भी न हो, ऐसा समाधान अन्यत्र से खोज निकालकर उसमें समेट लिया गया है। यहाँ हमारा प्रयास मूल कथानक के प्रति पूर्णत: वफादार रहकर इन रहस्यों को जानना है। जहाँ ऐसा रहस्य समझा न जा सके, वहाँ अपनी समझ की मर्यादा स्वीकार कर महर्षि वाल्मीकि के समक्ष नतमस्तक खड़े रहकर पुन:-पुन: प्रयत्न करना, यही एकमात्र मार्ग है।

बाली और सुग्रीव जब द्वंद्वयुद्ध कर रहे थे, उस समय राम नजदीक के एक घने वृक्ष की ओट में छिपकर खड़े थे—ऐसा स्पष्ट कथन वाल्मीकि ने किया है। इसके बाद जब राम ने बाण छोड़ा तो प्रत्यंचा की ध्वनि हुई, ऐसा उल्लेख है। राम द्वारा छोड़ा गया बाण बाली की छाती में लगा, इसलिए राम ने बाली के सामने खड़े रहकर ही उसे चेताया था, ऐसा अर्थ कइयों ने निकाला है। इसमें बुद्धिमत्ता और औचित्य दोनों की कमी दिखाई देती है। जिस तरह रावण के साथ रणक्षेत्र में युद्ध करके उसको पराजित किया, उसी तरह बाली को भी युद्ध के लिए आह्वान करके उसका वध किया होता तो यह कृत्य राम के पौरुष और धर्म के अधिक योग्य सिद्ध होता। बाली ने सुग्रीव पर अन्याय किया था और ऐसे अन्याय के लिए राम ने उसे फटकारा होता तो यह अधिक धर्म्य होता। इतना ही नहीं, बाली-वध के बाद अपने इस कृत्य का राम ने बचाव किया है, वह भी उचित नहीं लगता। वे राजा थे और भरत के आदेश से धर्म-विरुद्ध आचरण करनेवाले का वध करना उनका कर्तव्य है, ऐसा राम ने कहा है। इतना ही नहीं, बाली ने जीवन में हमेशा स्वेच्छाचार किया है, हमेशा धर्म-विरुद्ध व्यवहार किया है और सत्पुरुषों द्वारा निंदित किए गए सभी कार्य किए हैं, ऐसा आक्षेप राम ने किया है। बाली ने इनमें से कुछ किया हो, ऐसा कोई उल्लेख कहीं नहीं मिलता। राजा होने के कारण वन में वानरों और मृगों का शिकार करना क्षत्रियोचित है, इसलिए बाली का वध ऐसा ही शिकार कहा जाएगा, ऐसी हास्यास्पद दलील भी राम ने की है।

इसके बाद माल्यवान् पर्वत पर राम ने वर्षाऋतु व्यतीत की। महर्षि वाल्मीकि ने उस समय का जो वर्णन किया है, वह उत्तम कविता बन पड़ी है। शरद ऋतु समाप्त होने के बाद सुग्रीव ने सीता की खोज में वानरों को चारों दिशाओं में भेजा। यहाँ फिर एक बार यह सवाल होता है कि सीता का हरण रावण ने किया था और रावण लंका का राजा था, यह जानते हुए भी इतना सारा परिश्रम चारों दिशाओं में किसलिए किया होगा? इसके अलावा दक्षिण दिशा में जा रहे हनुमान को ही राम ने अपनी मुद्रिका दी, इसका अर्थ ही होता है कि सीता लंका में ही हैं और उनसे मिलने का काम हनुमान से ही निष्पन्न होना है, इस विषय में राम को विश्वास था। यह सारा प्रचंड पुरुषार्थ किए बिना ही राम अपनी वानर सेनाओं के साथ सीधे-सीधे लंका की सीमा के पास युद्ध के लिए पहुँच गए होते तो यह अधिक तर्कसंगत होता।

युद्ध के आरंभ में विभीषण का आगमन शरणागत के रूप में हुआ है, न कि मित्र के रूप में। राम ने उसे मित्र के रूप में स्थान दिया, इसमें भी राजकीय और सामरिक उद्देश्य की प्रधान स्थान पर रहे हैं। इसके पूर्व चित्रकूट में भरत के साथ मिलन के अवसर पर राम ने भरत को राजनीति का जो उपदेश दिया है, उसमें जो लोग अपने स्वामी से कुपित होकर विपक्ष में आए हों, उन्हें उनकी इच्छित वस्तु देकर अपने साथ मिला लेना राजा का कृत्य है, ऐसा कहा है। यही राजनीति राम ने विभीषण के संबंध में अपनाई हो, ऐसा लगता है। विभीषण लंका में अपमानित हुआ था और उसके मन में लंका के राज्य की लालसा भी थी। यह लालसा राम के साथ के प्रथम मिलन में भले मुखरित होकर प्रकट नहीं हुई थी, पर राम ने दूरंदेशी का प्रयोग करके राजनीति का यह प्रयोग किया हो, ऐसा लगता है। विभीषण को स्वीकार करने के क्षण ही राम ने उसे लंका के सिंहासन पर स्थापित कर दिया। शरणागत विभीषण भी वस्तुत: राम के प्रति अपार भक्तिभाव दिखाकर स्वर्गारोहण के क्षण उपस्थित हुआ है, पर राम ने उसे धरती पर ही रहने का आदेश दिया था।

राम के रावण-विजय के विषय में एक बात पर गौर करनी चाहिए कि तमाम प्रयासों के बाद भी रावण जब परास्त नहीं होता तो इंद्र के सारथि मातलि ने उन्हें स्मरण कराया है कि आप ब्रह्मास्त्र का प्रयोग क्यों नहीं करते? ब्रह्मास्त्र अस्त्र-शस्त्र में अंतिम शस्त्र माना गया है। इस शस्त्र का दोनों पक्षों ने युद्ध में कभी-कभार प्रयोग भी किया है। स्वयं राम ने वनवास के दौरान कौवे का रूप धारण करके आए इंद्रपुत्र जयंत पर इस शस्त्र का प्रयोग किया था। जिस राम ने एक कौवे का संहार करने के लिए अमोघ ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया, वही राम रावण के साथ लड़े जा रहे जीवन-मरण के अंतिम युद्ध में ब्रह्मास्त्र बिसर जाएँ, यह आश्चर्यजनक लगता है। वाल्मीकि ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि मातलि के कहने के बाद ही राम को ब्रह्मास्त्र याद आया। राम ने इस ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया और रावण का नाश हुआ।

एक बात यह उल्लेखनीय है कि युद्ध के आरंभ में धर्म के सिद्धांतों की बातें होती हैं किंतु जब युद्ध चरमसीमा पर पहुँचता है तो ये सिद्धांत दोनों पक्ष के तमाम सेनानी भूल जाते हैं। युद्धकांड के ८०वें सर्ग में राम ने अपने सैनिकों को धर्मयुद्ध के सिद्धांत कहे हैं। इसमें जो युद्ध न करते हों उनका वध न करना, मायावी युद्ध न करना, एक व्यक्ति से कई लोगों द्वारा युद्ध न करना—ये सभी नियम दरशाए हैं; परंतु रात के समय सुग्रीव की आज्ञा से वानरों ने समग्र लंका की नागरिक बस्ती में आग फैलाई थी और स्त्री-बालकों सहित नि:शस्त्र एवं युद्ध न करते हों, ऐसे नागरिकों को निर्दयतापूर्वक मार डाला था। राक्षसों के पक्ष में तो यह अधर्म था ही, इसलिए उनसे धर्माचरण की अपेक्षा हम नहीं रख सकते। इंद्रजित मायावी युद्ध करता था, ऐसा बार-बार कहा गया है, परंतु युद्धकांड—९३/२६-२७ के अनुसार राम ने भी प्रत्युत्तर में मायावी युद्ध किया है। इंद्रजित अदृश्य होकर युद्ध करता था तो राम भी राक्षसों की दृष्टि से कभी अदृश्य हो जाते थे तो कभी एक ही रणभूमि में हजारों राम दिखाई देते थे। इतना ही नहीं, इंद्रजित या रावण के साथ अकेले लक्ष्मण या राम ही क्रमश: नहीं लड़ते रहे, अपितु विभीषण, हनुमान ये सब भी एक साथ ऐसे द्वंद्वयुद्ध में प्रहार करते हैं।

रावण के वध के बाद उसके अंतिम संस्कार के लिए इनकार करते विभीषण को राम ने जो बोध दिया है, वह आर्य संस्कृति का उत्तम स्वरूप प्रकट करता है। वैर व्यक्ति जीवित हो, वहीं तक होता है। मृत्यु के बाद अचेत देह के साथ वैरयुक्त व्यवहार नहीं हो सकता। इस निर्जीव शरीर का तो पूरे सम्मान के साथ संस्कार ही करना चाहिए। यहाँ ग्रीक भाषा के महाग्रंथ 'इलियड' में पराजित हेक्टर की मृतदेह को विजेता एचिलिस घृणापूर्वक ट्रोय के किले के आस-पास मरे मवेशी की भाँति गोल-गोल घसीटता है, यह बात याद रखनी चाहिए। ग्रीक संस्कृति में मृत शत्रु को अपमानित करने की बात की तुलना में आर्य-संस्कृति में ऐसे शत्रु के प्रति सम्मान दिखाने की बात अनायास आकर्षित करे, ऐसी है।

युद्ध के अंत में बंदिनी सीता राम के समक्ष उपस्थित हुई, उस समय जो कुछ हुआ है, उसके विषय में रामभक्तों, रामकथा के विद्वानों, विवेचकों तथा सामान्य पाठकों—इन सभी के लिए एक अगूढ़ प्रश्न बनकर आज तक चर्चित होता रहा है। इसके बावजूद, इस चर्चा से सबको संतोष हो, ऐसा कुछ भी निष्पन्न नहीं होता। राम-विजय की बात जानकर हर्षोन्मत्त बनी सीता सीधे पति के दर्शन करने के लिए उद्यत हुई हैं। पर राम ने उन्हें स्नान आदि करने के बाद संपूर्ण विभूषित होकर ही अपने पास आने का आदेश दिया। जिस क्षण की लंबे समय से प्रतीक्षा हो, वह जब प्राप्त हो, तब प्रियजन से मिलने के लिए शृंगार और आभूषण अर्थहीन बन जाते हैं। मगर राम ने ऐसा आग्रह किया। इतना ही नहीं, सीता जब पति की इच्छानुसार विभूषित होकर राम के समक्ष आईं तो राम ने उनको अस्वीकार किया, सीता की पवित्रता पर शंका की। इतना ही नहीं, ऐसा भी कहा कि वे इक्ष्वाकु-वंशी हैं और उन्होंने वीरता के गौरव के लिए ही रावण का वध किया है। सीता जैसी सुंदर स्त्री वश में हो तो रावण इतने समय उससे दूर नहीं रह सका

होगा, इसलिए अब ऐसी स्त्री को वे यदि स्वीकार करें तो कुल को कलंक लगेगा। उनके लिए अब सीता का कोई भी उपयोग नहीं। इसलिए सीता अब भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, सुग्रीव या विभीषण जिसके साथ रहना हो, उसके साथ रहें।

सुनते ही आज भी रोएँ खड़े हो जाएँ, ऐसे ये शब्द हैं और ऐसा यह दृश्य है। राम सीता की पवित्रता लोगों के समक्ष सिद्ध करना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने ऐसा किया था—ऐसा रामभक्तों का उत्तर गले न उतरने जैसा है। पति द्वारा तिरस्कृत हुई सीता ने अग्नि-प्रवेश किया और इसके लिए चिता लक्ष्मण ने ही तैयार की। सीता इस अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण हुई, तथापि राम ने इस परीक्षा के परिणाम को आगे चलकर तो अस्वीकार ही किया है। यदि राम ने सीता की यह अग्नि-परीक्षा, उनका चरित्र निष्कलंक था, ऐसा लोगों के समक्ष सिद्ध करने के लिए ही ली होती तो सगर्भा सीता का परित्याग मात्र लोक-निंदा के भय से न किया होता! राजा को लोकापवाद को लक्ष्य में रखना चाहिए, यह तर्क यहाँ असंगत है। लोकापवाद का निवारण तो इससे पूर्व ही हो चुका था। फिर भी राम ने लगभग निष्ठुर और निर्मम कहा जा सके, इस तरह दूसरी बार सीता का परित्याग किया है।

अग्नि-परीक्षा यदि अनिवार्य थी तो उसके लिए इतने कठोर और निर्दय होने की आवश्यकता समझ में नहीं आती। जो राम सीता के वियोग में सतत क्रंदन करते रहे हैं, वही राम सभी की उपस्थिति में सीता को इस तरह अपमानित करें, यह न समझा जाने वाला व्यवहार है।

दूसरी बार का सीता-त्याग इससे भी अधिक निर्मम लगता है। सीता ने गंगातट पर जाकर एक रात मुनि के आश्रम में बिताने की इच्छा पति के समक्ष व्यक्त की थी। इस इच्छा का लाभ लेकर राम ने एक तरह से देखें तो सीता के साथ छल ही किया था, ऐसा कहे बिना नहीं रहा जाता। अयोध्या में सीता के विषय में अनर्गल बोला जा रहा है, यह जानने के बाद राम को तो उस अग्नि-परीक्षा के प्रमाण-पत्र पर अटल रहना चाहिए था। इसी में सीता के प्रति न्याय और धर्म समाए थे। ऐसा होते हुए भी ऐसी सुनी-सुनाई बात को समग्र जनसमाज की बात के रूप में स्वीकार करके राम ने सीता की इच्छा पूरी करने के बहाने उन्हें रातोरात अँधेरे में रखकर रवाना कर दिया। अपनी इच्छा पूरी हो रही है, इस प्रसन्नता के साथ गंगातट पर जा रही सीता को ऐसी कल्पना भी कहाँ से हो कि उनके साथ एक भयानक छल किया जा रहा है! गंगातट पर रथ से उतरने के बाद लक्ष्मण ने सीता को इस परित्याग की बात से अवगत कराया है।

पति द्वारा त्यागी गई सीता ने जिन दो पुत्रों को जन्म दिया, उनका लालन-पालन और शिक्षण महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में हुआ और रामायण-गान भी महर्षि ने इन दोनों किशोरों द्वारा ही अयोध्या के राजमहल में प्रस्तुत करवाया। इस गान के अंत में महर्षि वाल्मीकि ने राम से कहा कि सीता पवित्र हैं, विशुद्ध हैं और उन दोनों राजकुमारों की माता हैं, अत: राम को उन्हें स्वीकार करना चाहिए। वाल्मीकि जैसे महर्षि द्वारा प्रमाणित होने के बाद भी राम सीता को स्वीकार नहीं करते, उलटे सीता को इस जनसमूह के समक्ष अपनी पवित्रता प्रमाणित करनी चाहिए, ऐसा दुराग्रह करते हैं। लंका में तो सीता ने अग्नि-परीक्षा देकर अपनी पवित्रता प्रमाणित की थी, इसलिए अब उससे भी बड़ी कोई परीक्षा राम को अभिप्रेत है, यही निष्कर्ष निकलता है। अग्नि-परीक्षा से अधिक कठिन परीक्षा दूसरी क्या हो सकती है? सीता ने भूमि-प्रवेश किया। इस भूमि-प्रवेश को शायद वैज्ञानिक रूप से नहीं समझाया जा सकता है; परंतु जिस तरह सीता का जन्म रहस्यपूर्ण था, उसी प्रकार उनका विलय भी अगम्य ही रहा।

सबसे अधिक आश्चर्यजनक बात तो यह है कि पत्नी के भूमि-प्रवेश के बाद राम सुबक-सुबककर रोए हैं और करुण आक्रंद किया है। राम ने पृथ्वी से करुण याचना की है कि तो वह सीता को उन्हें वापस कर दे या उन्हें (राम को) भी अपनी गोद में समा ले। ''मैं सीता के बिना नहीं रह सकूँगा। यदि मुझे मेरी सीता नहीं मिली तो मैं पर्वतों

और वनों के साथ आपका (अर्थात् पृथ्वी का) नाश कर दूँगा!'' राम का यह क्रोध और यह करुण-क्रंदन अतिशय विसंवादी लगता है।

जिस तरह राम ने पृथ्वी का नाश कर देने की धमकी दी है, उसी तरह पहले के एक अन्य अवसर पर भी राम ने ऐसा ही असंतुलन दिखाया है। यह घटना लंका प्रवेश के लिए समुद्र पर सेतु बनाने के संबंध में है। समुद्र लाँघने के लिए राम ने समुद्र से पहले सहयोग माँगा और फिर समुद्र के समक्ष तीन दिन और तीन रात तक वे धरना देकर बैठे रहे। समुद्र ने कोई प्रतिभाव नहीं दिखाया तो राम ने जिस तरह समुद्र पर अपना रोष व्यक्त किया है, उसके शब्द भी ध्यान देने लायक हैं। राम ने धैर्य खोकर कहा है कि यह समुद्र बहुत अहंकारी है और मेरी प्रार्थना के बाद भी वह मेरे समक्ष उपस्थित नहीं हो रहा। ऐसा लगता है कि समझाने से कोई काम नहीं हो सकता, इसलिए अब मैं इस समुद्र का पूरा-पूरा शोषण कर लूँगा। अपने बाणों से इसका नाश कर दूँगा, फिर तो भले ही समुद्र में रहते तमाम जीवों का भी नाश हो जाए। इसके बाद प्रकट हुए समुद्र ने राम के समक्ष प्रकृति के परम तत्त्व की बात की है—

''हे रघुनंदन! पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और प्रकाश—ये सभी अपने-अपने धर्म के अनुसार अस्तित्व धारण करते हैं और प्रकृति को लाँघकर कुछ हो नहीं सकता। जड़ तत्त्व के रूप में मैं अगाध हूँ और यदि मेरा तत्त्व प्रकट हो जाए तो यह प्रकृति का व्यतिक्रम कहा जाएगा। मैं किसी कामना अथवा भय से अपनी जलराशि को स्तंभित नहीं कर सकता। आपको मेरे इन प्रकृति तत्त्वों के साथ सहयोग करके इस जलराशि को लाँघना चाहिए। इसके लिए आपको मेरे जल पर सेतु का निर्माण करना चाहिए और इस सेतु-निर्माण के कार्य में मैं विक्षेप नहीं करूँगा।''

समुद्र ने प्रकृति-तत्त्व की बात की है, यह बात राम कैसे भूल गए होंगे? समुद्र लाँघने के लिए इन आधारभूत तत्त्वों को भुलाकर राम समुद्र के नाश के लिए तत्पर हुए, यह भी एक अनबूझ पहेली है। सेतु-निर्माण का कार्य इससे पहले भी हो सकता था।

परंतु पुनरोक्ति का दोष मोल लेकर भी कहना चाहिए कि रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथों में राम तथा कृष्ण जैसे परम पात्रों के आलेखन में भी वाल्मीकि तथा व्यास जैसे महामनीषियों ने कई ऐसे रहस्य सहेज रखे हैं कि जिन्हें समझने के लिए आज भी हमारी बुद्धि की मर्यादा आड़े आती है।

अयोध्या में पुनरागमन के बाद राम ने तुरंत ही पुष्पक-विमान उसके मूल मालिक कुबेर के पास वापस भेज दिया है। यह विमान कुबेर के पास से रावण ने छीन लिया था। लंका का राज जिस तरह रावण के अनुगामी के रूप में विभीषण को सौंपा गया, उसी तरह लंका के एक अंश के रूप में पुष्पक भी विभीषण को सौंपा जा सकता था, पर राम ने ऐसा नहीं किया। इसमें राम की निष्पक्षता की कलई उतर जाए, ऐसी न्यायबुद्धि का दर्शन होता है। विजय भले ही प्राप्त हुई हो, पर इससे कोई अन्यायपूर्ण मार्ग से उपलब्धि हुई हो, उसके स्वामित्व का दावा नहीं किया जा सकता।

राम की ऐसी विशिष्ट न्यायबुद्धि की अंतिम सीमा कहा जा सके, ऐसा एक प्रसंग उत्तरकांड के अंतिम पृष्ठों में आता है। सीता के भूमि-प्रवेश के बाद भरत के मामा केकेय देश के राजा युधाजित ने महर्षि गार्ग्य द्वारा राम को संदेश भेजा है। इस संदेश में सिंधु नदी के तट पर बसे गंधर्व पर आक्रमण करके वह रमणीय प्रदेश हस्तगत करने का सुझाव दिया है। राम ने किसी भी निश्चित प्रयोजन के बिना इस सुझाव को स्वीकार किया है। जो गंधर्व शांतिप्रिय थे और जो दंडकारण्य के खर-दूषण की तरह ऋषियों या तपस्तियों को संत्रस्त नहीं करते थे, उनका नाश करके वह प्रदेश जीत लेना, ऐसी विस्तारवादी बात राम ने क्यों स्वीकार की होगी, ऐसा प्रश्न उठता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो इस छोटी सी बात का एक निश्चित महत्त्व ध्यान खींचता है। भरत के नेतृत्व में यह प्रदेश जीता गया, रक्त की नदियाँ बहीं, इस रक्त के प्रवाह में मनुष्यों की मृतदेह तैरने लगीं और अंत में भरत ने एक

प्रचंड अस्त्र से तीन करोड़ गंधर्वों का नाश किया। इस तीन करोड़ की संख्या के विषय में भले विवाद हो सकता है, पर यह अकारण विनाश था, ऐसा लगे बिना नहीं रहता। भौगोलिक दृष्टि से यह प्रदेश सिंधु नदी के आस-पास का क्षेत्र कहा गया है। भरत के दो पुत्र तक्ष तथा पुष्कल दोनों इस प्रदेश में बसे। तक्ष ने जो नगरी बसाई, उसका उल्लेख रामायण में तक्षशिला के रूप में हुआ है और पुष्कल ने जो नगरी बसाई, उसका नाम पुष्कलावत के रूप में दरशाया गया है (यह पुष्कलावत संभवत: आज का पेशावर हो सकता है!) हालाँकि राम के व्यक्तित्व में कहीं विस्तारवाद नहीं, सत्ता या प्रदेशों की भूख नहीं है। किष्किंधा या लंका जैसे राज्य उन्होंने अनुगामी उत्तराधिकारियों को वापस सौंपे हैं।

अश्वमेध-यज्ञ तत्कालीन राजवंशों में परस्पर सर्वोपरिता की भावना के अनुकूल कहे जा सकते हैं। राम ने ऐसा अश्वमेध-यज्ञ भी किया है। इस अश्वमेध यज्ञ में अयोध्या की सर्वोपरिता उन्होंने आर्यावर्त के अन्य राज्यों पर सैद्धांतिक रूप में स्थापित कर ही दी थी। उसके बाद गंधर्वों के इस प्रदेश को जीतना और जीतने के बाद संहार भी करना, इसका औचित्य समझ में नहीं आता। अश्वमेध यज्ञ में पूजा-स्थान पर सपत्नीक बैठने के लिए राम ने सीता की स्वर्ण प्रतिमा बनाई थी, ऐसा कथानक लोकप्रिय है, परंतु वाल्मीकि ऐसी कोई बात हमें नहीं बताते। मूल कथानक में ऐसा कहीं नहीं है।

राम के जीवनकाल के उत्तरार्ध में शंबूकवध का प्रसंग भी खासा विवादास्पद रहा है। एक ब्राह्मण के तेरह वर्ष के पुत्र की मृत्यु हुई और पिता के जीवित होते हुए पुत्र की हुई मृत्यु अकाल मृत्यु कही जाएगी। ऐसी अकाल मृत्यु राज्य में कोई महान् दुष्कर्म हो रहा हो तभी संभव है—ऐसे तर्क के साथ उस ब्राह्मण ने राम के समक्ष रुदन किया और राज्य में यदि ऐसा कोई दुष्कर्म होता हो तो इसकी जवाबदेही राजा की ही मानी जाएगी, ऐसा आक्षेप किया। उस समय सभा में उपस्थित देवर्षि नारद ने युगधर्म और वर्णधर्म के विषय में आलोचना की और कहा कि प्रवर्तमान त्रेतायुग में मात्र ब्राह्मण और क्षत्रिय ही तपश्चर्या कर सकते हैं, पर वैश्यों तथा शूद्रों को ऐसा कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता। इस ब्राह्मण-पुत्र की मृत्यु राज्य की सीमा के अंदर किसी अनधिकृत व्यक्ति की महान् तपश्चर्या के कारण ही हुई होनी चाहिए। नारद के कथनानुसार राम ने कौशल प्रदेश में सर्वत्र खोज की और तपश्चर्या कर रहे शंबूक नामक एक शूद्र को खोज निकाला। तपश्चर्या कर रहे शंबूक से राम ने पूछा, ''हे तपस्वी! आप कौन हैं और किसलिए तपस्या कर रहे हैं? उसने बताया कि वह शूद्र वर्ण में जनमा है और देवलोक पर विजय प्राप्त करने के लिए तथा सशरीर स्वर्गलोक में जाने के लिए वह ऐसा घोर तप कर रहा है।'' इतना सुनते ही एक क्षण का भी विलंब किए बिना राम ने औंधे सिर लटककर तपस्या कर रहे शंबूक का शिरोच्छेद कर दिया।

तपस्या को किस प्रकार पापकर्म कहा जा सकता है, लाख रुपए का यह प्रश्न आज भी अनुत्तरित ही है! राक्षस, वानर, शबरी जैसी स्त्रियाँ, ये सभी तपश्चर्या करते थे। सबकी भौतिक समृद्धि से लेकर मोक्ष तक की अपेक्षाएँ थीं। शंबूक के संदर्भ में उसकी अपेक्षा धर्म्य नहीं थी, ऐसा यदि स्वीकार करें तो राक्षसों की तपश्चर्या भी अधर्म्य ही थी। शंबूक को ऐसी तपश्चर्या रोकने के लिए कहने की बजाय तत्क्षण उसका वध कर डालना कितना उचित कहा जा सकता है, यह प्रश्न आज भी खड़ा है। परमात्मा के समक्ष यदि सभी मनुष्य एक समान हैं और वैदिक संस्कृति ने यह समानता की बात अनेक बार पुकार-पुकार कर कही है तो शंबूक का तपस्या करने का अधिकार किसी के द्वारा छीना नहीं जा सकता।

शंबूक-वध के इस प्रसंग को गुजराती भाषा के राष्ट्रकवि झवेरचंद मेघाणी ने, माँ भारती ने अपने भूतकाल में जो पापकृत्य किए हैं, उनकी सूची में शामिल किया है। 'तारा पातक ने संभार मोरी मा, हिंद मोरी मा' नामक काव्य में मेघाणी ने अर्जुन द्वारा खांडव वन को जलाए जाने और राम द्वारा शंबूक का वध किए जाने को पातक बताया है।

इस प्रसंग को लक्ष्य में लेकर वर्णाश्रम धर्म के विरोधी और हिमायती सैकड़ों वर्ष से वाद-विवाद करते आ रहे हैं। राम पूर्ण पुरुषोत्तम नहीं थे, मर्यादा पुरुषोत्तम थे। स्मरण रहे कि राम ने कभी भी देवत्व का दावा नहीं किया। जब राम पर देवत्व का आरोपण किया गया है तो उन्होंने नम्रतापूर्वक उसको अस्वीकार किया है। जब मर्यादा को स्वीकार किया जाता है तो तत्कालीन समाज का कोई-न-कोई मोड़ समकालीन बड़े व्यक्तित्व के व्यवहार में भी निषेधात्मक रूप से प्रतिध्वनित हुए बिना नहीं रहता।

ब्राह्मण परशुराम तपश्चर्या के साथ ही शस्त्र भी धारण करते हैं। क्षत्रिय विश्वमित्र भी इसी तरह तपस्वी बने हैं। शबरी ने भी तपस्या द्वारा स्थान प्राप्त किया है। श्रवण के माता-पिता भी क्रमश: शूद्र तथा वैश्य जाति के ही हैं। इसके बावजूद ये पति-पत्नी राजा दशरथ को शापित कर सकें, ऐसे तपस्वी के रूप में उनकी क्षमता है। श्रवण का उल्लेख रामायणकार ने मुनिकुमार के रूप में ही किया है और राजा दशरथ ने भी इस वैश्य पिता और शूद्र माता को मुनि के रूप में संबोधित किया है। यदि त्रेता-युग में वैश्यों और शूद्रों को तपस्या करने का अधिकार नहीं था तो दशरथ ने भी श्रवण की मृत्यु के बाद इस अंध मुनि-दंपती से दंडस्वरूप शाप की माँग करने के बदले उनका वध किया होता, लेकिन दशरथ ने ऐसा नहीं किया। इसके विपरीत, राम ने ऐसा किया है। इन दोनों के बीच का यह स्पष्ट अंतर या विसंवाद ध्यान देने लायक है।

राम के स्वर्गगमन की बात किसी भी रामभक्त को ठीक पर सामान्य विचारशील व्यक्ति को प्रक्षुब्ध कर दे, ऐसी है। महाकाल राम जैसे प्रचंड व्यक्तित्व को भी अपने पाश (बंधन) में यथासमय समा ही लेता है। काल के ऊपर कुछ भी नहीं। प्रत्येक व्यक्ति का एक निश्चित जीवनकर्म होता है। राम जैसे युगपुरुष को उसके जीवनकर्म की समाप्ति का संदेश काल द्वारा प्राप्त होता है। सच कहें तो यदि व्यक्ति थोड़ा समझदार हो और जीवन को वह थोड़े ताटस्थ्य भाव से निरख सके तो ऐसा संदेश अशब्द-वाणी में उसे भी मिलता है। मनुष्य की जिजीविषा ऐसी प्रबल होती है कि इस नि:शब्द वाणी को वह समझने का प्रयास नहीं करता। राम मनुष्य रूप में अवश्य जनमे हैं, पर वे सामान्य मनुष्य से थोड़े नहीं, बहुत ऊँचे हैं। महाकाल की यह वाणी राम न समझें, ऐसा हो ही नहीं सकता।

यहाँ जो घटना प्रस्तुत है, उसमें स्वयं काल राम के पास जीवनलीला की समाप्ति का संदेश लेकर उपस्थित हुआ है। काल का यह संदेश राम जिस समय सुन रहे हों, उस समय उस कक्ष में कोई भी प्रवेश न करे, इस सूचना के साथ लक्ष्मण द्वारपाल के रूप में अपना कर्तव्य निभा रहे थे। इसके बावजूद काल की इस सूचना का उल्लंघन करके यदि कोई कक्ष में प्रवेश करेगा तो राम द्वारपाल का कर्तव्य निभा रहे लक्ष्मण को मृत्युदंड देंगे, ऐसा निर्धारित हुआ था। ठीक उसी समय दुर्वासा ऋषि वहाँ उपस्थित हुए। दुर्वासा ने तत्क्षण राम से मिलने का आग्रह किया और यदि लक्ष्मण उन्हें रोकेंगे तो अपने तपोबल से समग्र राज्य को तथा उसकी प्रजा को नष्ट कर देंगे, ऐसी धमकी दी। लक्ष्मण के समक्ष दो ही विकल्प थे—या तो वे दुर्वासा को रोककर राम की आज्ञा का पालन करें या राम की आज्ञा का अनादर कर मृत्युदंड स्वीकार करें। दुर्वासा को रोकने का एक ही अर्थ होता था—रामसहित समग्र राज्य का नाश! लक्ष्मण ने यहाँ समुचित निर्णय लिया। दुर्वासा को अंदर जाने देकर वे भले ही नाश को प्राप्त हों, पर रामसहित राज्य तो बच जाएगा। व्यक्ति के भोग पर समष्टि को बचा लेने की यह उदात्त भावना है। लक्ष्मण ने इसका अनुसरण किया। राम की आज्ञा का अनादर हुआ।

काल के साथ पूर्व-निर्धारित शर्त के अनुसार अब लक्ष्मण के लिए देहांत-दंड अनिवार्य था। राम के लिए यह अतिशय कठिन क्षण था। सही कहें तो सीता-त्याग से भी अधिक विकट परिस्थिति थी। राम ने इस परिस्थिति में मनुष्योचित हीले-हवाले करते हों, इस तरह का समझदारी भरा मार्ग भी निकाला है। उन्होंने कहा, ''साधुपुरुष का त्याग करना, वध के समान ही है। इसलिए मैं लक्ष्मण का त्याग करता हूँ।'' (यहाँ महाभारत का एक प्रसंग याद

करने लायक है। युद्ध के सत्रहवें दिन युधिष्ठिर एवं अर्जुन के बीच भी ऐसी ही समस्या पैदा हो गई थी। या तो अर्जुन के हाथों युधिष्ठिर का वध हो अथवा अर्जुन स्वयं आत्महत्या करें! इन दोनों विकल्पों का धर्म के नाम पर ही कृष्ण ने मेधावी अर्थघटन कर परिस्थिति सँभाल ली थी। यहाँ राम ने जिस तरह लक्ष्मण का त्याग वध ही कहा जाएगा, ऐसा तर्क किया है, उसी तरह कृष्ण ने ज्येष्ठ भ्राता का अपमान वध के समान है और आत्म-प्रशस्ति आत्महत्या के समान ही है, ऐसा मध्यम-मार्ग निकालकर सबकुछ यथावत् कर दिया।)

परंतु अर्जुन और युधिष्ठिर ने विजय की कामना से जो अर्थघटन स्वीकार कर लिया, वह अर्थघटन लक्ष्मण नहीं स्वीकार करते हैं। मृत्यु के भय से धर्म की मूल भावना को हानि हो, यह बात लक्ष्मण को स्वीकार नहीं। इस तरह राम थोड़ा ही सही, पर असत्यवादी बनें, इसे लक्ष्मण भला कैसे स्वीकार कर सकते थे? लक्ष्मण उसी क्षण किसी से मिले बिना सीधे सरयू-तट पर गए और योगसमाधि द्वारा अपने प्राण विसर्जित कर दिए।

लक्ष्मण द्वारा आत्म-विसर्जन किए जाने के बाद तत्काल राम ने भी काल के आदेश के अनुसार अपनी जीवनलीला समाप्त कर ली। सरयू के जल में प्रवेश करके राम ने सदेह स्वर्गगमन किया और पृथ्वी पर अपने देहधर्म की समाप्ति कर दी।

रामचरित्र ने आज सैकड़ों वर्ष बाद भी करोड़ों व्यक्तियों के हृदय में जो स्थान प्राप्त किया है, वह अद्भुत है। ऐसी इस रामकथा को साहित्य के या अन्य किसी सामान्य मापदंड से मूल्यांकित नहीं किया जा सकता है। तुलसीदास ने तो इस कथा को मात्र 'रामचरित' ही नहीं, बल्कि 'मानस' भी कहा है। यहाँ मन ही केंद्रस्थान पर है, बुद्धि नहीं। एक चित्त में से प्रकट होता प्रवाह दूसरे चित्त को स्पर्श करे—इसकी यह बात है। इसमें बुद्धि के मापदंड कई बार अपर्याप्त सिद्ध हों, ऐसा संभव है। अपर्याप्त मापदंड को यदि हम अपर्यात ही रहने दें और फिर इन घटनाचक्रों का आनंद लें तो उसमें से सौंदर्य की उपलब्धि संभव है। बुद्धि का प्रदेश जहाँ समाप्त होता है, वहाँ से भक्ति का प्रदेश शुरू होता है। राम इस प्रदेश के देवाधिदेव हैं। ऐसे देवाधिदेव का अपने चित्त में उठते प्रश्नों के बावजूद वंदन ही करना चाहिए।

राम प्रेम के प्रतीक हैं। पिता, माता, भाई इन सबके प्रति उनका पारिवारिक प्रेम सर्वोच्च स्थान पर रहा है। पत्नी सीता के अन्यायपूर्ण त्याग के पीछे भी कुल अथवा प्रजा के प्रति उनका प्रेम ही कारणीभूत रहा है। दो प्रेम के बीच जब संघर्ष हुआ, तब व्यक्तिगत प्रेम के भोग पर उन्होंने समष्टिगत प्रेम को प्रधानता दी है। प्रेम की इस प्रधानता के विषय में निस्संदेह विवाद हो सकता है, यह स्वीकार करना चाहिए।

राम ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं, बल्कि पुराणकथा में आलेखित कल्पना-सृष्टि के पात्र हैं, ऐसा कुछ बौद्धिक अवश्य कहते हैं। जो ऐतिहासिक तथ्य अकबर अथवा अशोक के विषय में प्राप्त हैं, निरी आँखों से देखे जा सकें और गणित की स्पष्टता से समझे जा सकें, ऐसे साक्ष्य रामकथा के संदर्भ में उपलब्ध नहीं होते। निरी आँख या गणित के सत्य की एक मर्यादा है। इस मर्यादा से मापा जा सके, उतना ही सत्य है, ऐसा कहने में सत्य के विषय में हमारी अज्ञानता प्रकट होती है। जो नाम—उसके आलेखन के हजारों वर्ष बाद भी आज करोड़ों व्यक्तियों के चित्त में प्राण का संचार कर सकता हो—वह नाम एक विशुद्ध काल्पनिक पात्र है, ऐसा कहकर हम महाकाल के प्रति और करोड़ों व्यक्तियों की श्रद्धा के साथ अन्याय करते हैं।

राम और कृष्ण हमारी सांस्कृतिक चेतना के दो अनन्य नाम हैं। बालकृष्ण स्वरूप से लेकर योगेश्वर तक के विभिन्न रूपों में कृष्ण का दर्शन हम कर सकते हैं। राम के संदर्भ में ऐसा नहीं होता। राम का एक ही धुनर्धारी रूप है। फलत: राम के पात्र में कृष्ण का वैविध्य या भव्यता नहीं मिलती, यह स्वीकार करते हुए भी कहना पड़ेगा कि राम संस्कृति की भागीरथी हैं और कृष्ण संस्कृति के हिमालय हैं। हिमालय का दर्शन और भागीरथी का स्नान प्रत्येक

भारतीय के जीवन की अंतिम इच्छा होती है। हम सब की यह इच्छा पूरी हो!

❑❑❑